भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321 - 5704
(वर्ष-2, अंक-2, नवम्बर, 2014)

संरक्षक
कुलपति, प्रो. एस.पी. व्यास

परामर्शदाता
कुलसचिव, श्री अनूप केशवदेव पुजारी

सम्पादक मण्डल
प्रो. दिनेश अत्रि
प्रो. अम्बिकादत्तशर्मा
प्रो. चंदा बैन
श्री संतोष सोहगौरा
डॉ. ललित मोहन
श्री विवेक विसारिया

सम्पादक
डॉ. छबिल कुमार मेहेर

सहायक सम्पादक
अभिषेक सक्सेना

राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (मध्यप्रदेश) - 470003
दूरभाष : (07582) 265828
ई-मेल : hindicell@dhsgsu.ac.in

भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321 – 5704

वर्ष 2, अंक 2

नवम्बर, 2014

© *सर्वाधिकार सुरक्षित*

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :

हिन्दी अधिकारी, राजभाषा प्रकोष्ठ

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (म.प्र.)470003

दूरभाष : (07582) 265828

ई-मेल : hindicell@dhsgsu.ac.in

मूल्य : निःशुल्क आन्तरिक वितरण हेतु

'भाषा भारती' में प्रकाशित रचनाकारों के विचार से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

शब्द संयोजन

विनोद रजक

मुद्रण

भोपाल प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स

भोपाल (म.प्र.)

मो. 9893344375

सागर विश्वविद्यालय के संस्थापक, प्राणप्रतिष्ठापक

दानवीर, कर्मवीर, विधिवेत्ता, शिक्षाविद्

डॉक्टर हरीसिंह गौर

की स्मृति को सादर समर्पित।

प्रो. एस.पी. व्यास
कुलपति
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)470003

संदेश

मुझे यह जानकर हर्ष है कि विश्वविद्यालय सरकारी कामकाज में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के साथ-साथ राजभाषा नीति का यथोचित अनुपालन कर रहा है। विश्वविद्यालय के राजभाषा प्रकोष्ठ द्वारा गृह राजभाषा पत्रिका 'भाषा भारती' का प्रकाशन इस दिशा में एक सराहनीय प्रयास है।

भाषा हम सब की अस्मिता से जुड़ी होती है। जहाँ तक हिन्दी का सवाल है, आज वह किसी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं है। वह भारत के सभी भाषा-भाषियों के सम्मिलित योगदान से बनी है। उसकी कोई विशिष्ट या अलग शब्दावली नहीं है। इसलिए वह पूरे भारत में बोली, समझी जाती है। यही हिन्दी की पहचान और भूमिका है। यही कारण है कि हाल के युग में हिन्दी का विकास राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ हुआ है।

आज के तेजी से बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक परिवेश में वैश्वीकरण का प्रभाव हमारे घरों तक आ पहुँचा है, ऐसे में भाषा को सुरक्षित रखने का, उसकी शुद्धता सुनिश्चित करने का मुद्दा हम सबके लिए ज़रूरी हो गया है। ऐसे में हिन्दी भाषा को जीवित रखने के लिए यह आवश्यक है कि भाषा के स्वरूप को सरल रखा जाए जिससे कि यह व्यावहारिक हो और लोगों को उसका उपयोग करने में सुगमता रहे।

पत्रिका के प्रकाशन का यह दूसरा वर्ष है। मेरा यह मानना है कि ऐसी पत्रिकाएँ जहाँ एक ओर हिन्दी के प्रचार-प्रसार एवं उसके प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, वहीं दूसरी ओर विश्वविद्यालय के कर्मचारियों को इनके जरिए अपने विचार भी प्रकट करने का सुअवसर प्राप्त होता है।

मैं पत्रिका के सफल प्रकाशन की शुभकामनाओं सहित पत्रिका के प्रकाशन से जुड़े सभी लोगों को बधाई देता हूँ।

07 नवम्बर, 2014

(प्रो. एस.पी. व्यास)

अनूप केशवदेव पुजारी
कुलसचिव
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)470003

संदेश

भारत सरकार की राजभाषा नीति के अंतर्गत प्रेरणा और प्रोत्साहन के जरिए सरकारी कामकाज में हिन्दी का प्रगामी प्रयोग सुनिश्चित करने के प्रावधान किए गए हैं। 'भाषा भारती' का प्रकाशन भी इस कड़ी में एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

विश्वविद्यालय के अस्सी प्रतिशत से भी अधिक अधिकारियों एवं कर्मचारियों को हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान है, इसलिए उन्हें अपना अधिक से अधिक कामकाज हिन्दी में करना चाहिए। जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 351 में उल्लेख किया गया है कि हमें ऐसी हिन्दी का विकास करना चाहिए जो भारत की सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके, इसके लिए आवश्यकता पड़ने पर मूल रूप से संस्कृत से और गौण रूप से संविधान की आठवीं अनुसूची में वर्णित भाषाओं से शब्द लिए जा सकते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए हमें अपनी भाषा को सहज, सरल और प्रवाहमयी बनाने का प्रयास करना चाहिए।

हिन्दी पत्रिका का प्रकाशन राजभाषा नीति के कार्यान्वयन से जुड़ा एक अनिवार्य कार्य है। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ कार्मिकों को विचारों की अभिव्यक्ति के लिए एक मंच उपलब्ध कराती हैं तथा राजभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार और विकास में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

पत्रिका के सफल प्रकाशन की मंगलकामना के साथ मैं पत्रिका के प्रकाशन से जुड़े सभी अधिकारियों और कर्मचारियों को बधाई एवं शुभकामनाएँ देता हूँ।

07 नवम्बर, 2014

(अनूप केशवदेव पुजारी)

सम्पादकीय :

आ अब लौट चलें

''गाँधी के रास्ते पर आज हम न चल रहे हों
कल भी न चलें भले,
लेकिन उस रास्ते पर मानवता-निश्चिन्त है।''

ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी

1

उत्तर-आधुनिकता के इस कठिन समय में गाँधी जी की शिक्षा और हिन्दी की दीक्षा आज हम सब भारतवासियों की सख़्त ज़रूरत है । यह हमारे नए प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी की दूरदृष्टि ही थी कि प्रधानमंत्री पद पर आसीन होते ही उन्होंने दो अहम मुद्दों की ओर हम सबका ध्यान आकर्षित किया : गाँधी और हिन्दी। राष्ट्रपिता गाँधी जी की शरण और राजभाषा हिन्दी का वरण, स्वच्छ स्वदेशी उपज और सहज देशज भाषा। हिन्दी के बहाने उन्होंने देश को एकसूत्र में जोड़ने की कोशिश की जबकि गाँधी के माध्यम से देश को स्वराज के प्रगत स्वपथ पर लौटाने की।

भाषा की ताकत से गाँधी जी भलीभाँति परिचित थे और हमारे नए प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी भी। अगर आप जनता से सच्चे दिल से जुड़े हैं, उनके सरोकारों से बखूबी परिचित हैं, उनके दुःख-दर्द को भलीभाँति समझते हैं, तो उसकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति परायी भाषा में नहीं, बल्कि उन्हीं की भाषा में ही हो सकती है । बहरहाल, आज कौन इन्कार कर सकता है कि गाँधी जी एक युगपुरुष थे...युगावतार थे... युगव्यापी पुकार थे ... इंसान के भेस में एक चमत्कार। हम सबके लिए यह गौरव की बात है कि गाँधी जी इसी पवित्र देव भूमि भारतवर्ष में जन्म लिए और अलबर्ट आइंस्टीन के शब्दों में कहें तो सचमुच आनेवाले दिनों में किसी को यकीन ही नहीं होगा कि गाँधी जी हमारे ही तरह रक्त, हाड़, माँस धारी मनुष्य थे और इसी धरती पर विचरा करते थे। खैर, उनके ही दिखाए मार्ग पर चलकर न केवल भारत को अंग्रेजी साम्राज्य की दासता से मुक्ति मिली, अपितु एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों को अपनी स्वतंत्रता के लिए इस महामानव से प्रेरणा मिली । परन्तु यह भी सच है कि गाँधी जी के जननायक बनने में इस देश की देशज भाषा ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की । लोकसभा चुनाव-2014 को याद कीजिए! मोदी जी के गम्भीर, तेजस्वी भाषणों को भला कौन भूल सकता है । यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उनकी जीत के पीछे उनके भाषा-सामर्थ्य का कितना बड़ा हाथ रहा है । स्मरण हो कि यह भाषा उनकी मातृभाषा 'गुजराती' नहीं बल्कि इस देश की धड़कन 'हिन्दी' ही थी... प्रान्त-प्रान्त को जोड़ने वाली हमारी सम्पर्क भाषा हिन्दी।

प्रारम्भ से ही गाँधी जी विदेशी भाषा के बदले मातृभाषा में ही बच्चों को शिक्षा देने के पक्षधर थे । इस सम्बन्ध में 'ऑन एजुकेशन' में उद्धृत उनका वैज्ञानिक तर्क द्रष्टव्य है : 'जिस प्रकार माँ के दूध से बच्चे के शरीर का निर्माण होता है, उसी प्रकार मातृभाषा के माध्यम से उसके मन और बुद्धि का विकास होता है। शिक्षा का कोई दूसरा माध्यम कैसे हो सकता है ? यही तो प्रकृति का विधान है ।' यही कारण था कि इंग्लैण्ड में पढ़ने के बावजूद उन्होंने अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' और 'हिन्द स्वराज' गुजराती में लिखी थी । 'नव जीवन' में वे यहाँ तक कहते हैं कि विदेशी राज के दुष्परिणामों में से अंग्रेजी शिक्षा माध्यम सबसे भयंकर अभिशाप है और इतिहास इस पाप का सदा के लिए साक्षी रहेगा ।

साथियों! समय तेजी से बदल रहा है । हिन्दी आज हमारे धर्म, साहित्य, अध्यात्म की भाषा ही नहीं रही अपितु शिक्षा, सूचना प्रौद्योगिकी, मनोरंजन, व्यवसाय, धनोपार्जन तथा रोजगार की भाषा बन चुकी है । जनसंचार का कोई भी ऐसा भाग नहीं जहाँ विज्ञापन हिन्दी में न हों । जिस तरह से बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारत की ओर अग्रसर हुई हैं, उसी तरह से व्यावसायिक क्षेत्र में भी हिन्दी की ज़रूरत ने जोर पकड़ा है । परन्तु आज भी सरकारी कामकाज में हिन्दी प्रयोग के मामले में हम लोग बहुत पीछे हैं । ज़रूरत है कर्मचारियों एवं अधिकारियों को सहज भाव से हिन्दी को अपनाने की... उसकी ताकत, उसके सामर्थ्य को पहचानने की । आइये संकल्प लें कि आज से हम सब अपने कामकाज हिन्दी में करेंगे ताकि राजभाषा के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा मिल सके... हिन्दी और केवल हिन्दी । सवाल यह है कि कैसी हिन्दी ? गाँधी जी के शब्दों में : ''समूचे हिन्दूस्तान के साथ व्यवहार करने के लिए हमको भारतीय भाषाओं में एक ऐसी भाषा की ज़रूरत है, जिसे आज ज़्यादा से ज़्यादा तादाद में लोग जानते और समझते हों और बाकी लोग इसे झट से सीख सकें।'' स्पष्ट है गाँधी जी सरल हिन्दी के भी समर्थक थे । परन्तु दुःख की बात है आज हमें न गाँधी याद हैं, न हिन्दी की सुध। हम अपनी परम्परा से ही कटते जा रहे हैं। ध्यान रहे कि प्राचीन परम्परा से गहरे जुड़ कर ही आधुनिक विकास अपना सही रूप-रंग बिखेर सकता है। परम्परा से कटा विकास अपाहिज-सा प्रतीत होता है और उसमें अनेकानेक खामियाँ भी नज़र आने लगती हैं। हे! अत्याधुनिक मानव निःसन्देह तू ने प्रगति की है । परन्तु तेरी प्रगति, तेरा विकास हमारी प्राचीन परम्परा से कट कर बेलगाम हो गया है । तू उड़ रहा है परन्तु दिशाहीन होकर । सच है कि तूने कम्प्यूटर, मोबाइल, टेबलैट, इंटरनेट, सुपर कम्प्यूटर सब कुछ बना लिया है और आज दुनिया तेरी मुट्ठी में बंद है । पर देख तो सही तेरा ही पड़ोसी आज तुझे पहचानने से इनकार कर रहा है । तेरा ही बाप, तेरा अपना बेटा और तेरा सगा भाई आज तेरे दुश्मन हो गए हैं । हे! उन्नत प्राण आधुनिक मानव, हे! शंकालु विज्ञानी मानुष, हे! भयग्रस्त-तनावग्रस्त सर्वोच्च जीव याद कर अपने पुरखों को... राम, कृष्ण, ईसा मसीह, गौतम बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द को। देख-समझ वेद, उपनिषद्, कुरान, रामायण, महाभारत के सन्देश को । याद कर अपनी समृद्ध परम्परा को,

पहचान अपनी जन्मभूमि के रहस्य को... अपनी भाषा, संस्कृति, अस्मिता, परम्परा और पितृ-पुरुषों को... लौट आ अपनी जड़ों की ओर । चख अपनी देशज भाषा की मिठास और अपनी स्वदेशी उपज के गुणों को । इसी में तेरी और अन्ततः हम सब की भलाई है। देख तो सही गाँधी और हिन्दी तेरी कितनी मदद कर सकते हैं । जा तू गाँधी की शरण, हिन्दी का कर तू वरण, इसी में देश का कल्याण निहित है। हे! वैब मानव, आधुनिकता के मोह, अंधी दौड़ को छोड़ लौट अपनी जड़ों की ओर... लौट आ :

गाँधी का विश्व-प्रेम-पथ चिर प्रशस्त हो ।
हिन्दी का सूरज पृथ्वी पर कभी न अस्त हो ।।

2

'भाषा भारती' के प्रवेशांक को आप सभी का जो स्नेह और दुलार मिला वह हमारे लिए गौरव और प्रेरणा का विषय रहा । आशा करता हूँ कि यह अंक भी आप लोगों की कसौटी पर खरा उतरेगा । पूर्व की भाँति यह अंक भी हमारे शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों में हिन्दी-प्रेम का जादू बिखेरने में सक्षम होगा । इसी उम्मीद के साथ 'भाषा भारती' के दूसरे अंक को आप तक पहुँचाते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है ।

'भाषा भारती' को यथाशीघ्र प्रकाशित एवं प्रसारित करवाने की दिशा में निरन्तर प्रोत्साहित एवं प्रेरित करनेवाले विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति प्रो. एस.पी.व्यास जी और कुलसचिव अनूप केशवदेव पुजारी जी को पत्रिका प्रकाशन के शुभ अवसर पर मैं ससम्मान याद कर रहा हूँ । दोनों महानुभवों की सदाशयता एवं सहृदयता के प्रति 'भाषा भारती' परिवार अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है । 'भाषा भारती' पर विश्वास कर अपने महत्त्वपूर्ण सृजन को इसमें शामिल करने की अनुमति देने वाले सभी विद्वज्जनों के प्रति भी हृदय से आभार। सम्पादक मण्डल के सदस्यगण, विश्वविद्यालय के शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों से जो भरपूर प्यार एवं सहयोग मिला उसके लिए तहेदिल से शुक्रिया । पत्रिका से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े सभी विद्वज्जनों के प्रति हम सब कृतज्ञ हैं । विश्वास है कि आगे भी उनका सहयोग हमें यूँ ही मिलता रहेगा । आप लोगों की बेबाक टिप्पणी, निष्पक्ष प्रतिक्रिया एवं महत्त्वपूर्ण सुझावों का इन्तजार रहेगा । अस्तु ।

गाँधी जयन्ती **छबिल कुमार मेहेर**
2 अक्तूबर, 2014

अनुक्रमणिका

कुलपति महोदय का संदेश
कुलसचिव महोदय का संदेश
सम्पादकीय - आ अब लौट चलें

भाषा एवं साहित्य

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उनकी समस्याएँ 15
प्रेमचन्द

भारतीय साहित्य को अनुवाद की देन 27
रमेशचन्द्र शाह

हिन्दी और पूर्वोत्तर भारत का भाषायी संकट 34
अमरेन्द्र त्रिपाठी

हिन्दी और सूचना प्रौद्योगिकी 43
हिमांशु कुमार

हिन्दी दलित कवि और उनकी कविताएँ 52
अरविन्द कुमार

संस्कृति एवं चिंतन

आधुनिकता और गाँधी की प्रासंगिकता 56
धनंजय वर्मा

सागर : मेरा सागर 63
सुरेश आचार्य

स्वच्छ-भारत के अभियान में विश्वविद्यालयों की भूमिका 71
अम्बिकादत्त शर्मा

भारत में शिक्षा 76
तीर्थेश्वर सिंह

कविता

तीन कविताएँ 79
सुनीता जैन

तीन प्रेम कविताएँ 81
पंकज चतुर्वेदी

कैलाश रजक 83
दिनेश अत्रि

जंगल में मंगल 85
प्रतिभा पाण्डेय

चार कविताएँ 86
नवीन कानगो

तीन कविताएँ 87
पुनीता जैन

संदेह है कि संदेह नहीं 89
अनिल वाजपेयी

बूढ़े गिद्ध का घोंसला 91
सुधीर नागेश लिमये

मध्यप्रदेश गान 92
संतोष सोहगौरा

धरती 93
भावना रेवाडिकर

विज्ञान, सूचना एवं जनसंचार

मनुष्य की उत्पत्ति : कुछ वैज्ञानिक तथ्य 94
राजेश गौतम

हिन्दी मीडिया का मिशन 98
राजेन्द्र यादव

आर.टी.आई. अधिनियम और मीडिया 107
अलीम अहमद खान

संस्मरण

दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्थापक कुलपति सर हरीसिंह गौर 109
अभय सिंघई

बैरकों के दिन 115
कान्तिकुमार जैन

चिट्ठियों के दिन 125
ज्योत्स्ना मिलन

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 129
कृष्णदत्त पालीवाल

अनुवाद

पिता और पुत्र 138
सुरेन्द्र महान्ति

आइंस्टीन का पत्र 144
मेहरबान राठौर

समीक्षा

डार से बिछुड़ी : एक पाठकीय प्रतिक्रिया 146
विजय बहादुर सिंह

स्मृत्यालोक में महागुरु के अंतःस्वर की तलाश 149
छबिल कुमार मेहेर

रिपोर्ट

राजभाषा प्रकोष्ठ : कदम दर कदम 154
विनोद रजक

पाठकीय 156

परिशिष्ट

प्रशासनिक शब्दावली 159

●●●

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ

प्रेमचन्द

प्यारे मित्रों,

आपने मुझे जो यह सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आपको सौ जबानों से धन्यवाद देना चाहता हूँ; क्योंकि आपने मुझे वह चीज़ दी है, जिसके मैं बिलकुल अयोग्य हूँ। न मैंने हिन्दी-साहित्य पढ़ा है, न उसका इतिहास पढ़ा है, न उसके विकासक्रम के बारे में ही कुछ जानता हूँ। ऐसा आदमी इतना मान पाकर फूला न समाय, तो वह आदमी नहीं है। नेवता पाकर मैंने उसे तुरन्त स्वीकार किया। लोगों में 'मन भाये और मुँड़िया हिलाये' की जो आदत होती है वह खतरा मैं न लेना चाहता था। यह मेरी ढिठाई है कि मैं यहाँ वह काम करने खड़ा हुआ हूँ, जिसकी मुझ में लियाकत नहीं है; लेकिन इस तरह की गंदुमनुमाई का मैं अकेला मुज़रिम नहीं हूँ। मेरे भाई घर-घर में, गली-गली में मिलेंगे। आपको तो अपने नेवते की लाज रखनी है। मैं जो कुछ अनाप-शनाप बकूँ, उसकी खूब तारीफ कीजिये, उसमें जो अर्थ न हो वह पैदा कीजिये, उसमें अध्यात्म के और साहित्य के तत्त्व खोज निकालिएजिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ!

आपकी सभा ने पन्द्रह-सोलह साल के मुख़्तसर-से समय में जो काम कर दिखलाया है, उस पर मैं आपको बधाई देता हूँ, ख़ासकर इसलिए कि आपने अपनी ही कोशिशों से यह नतीज़ा हासिल किया है। सरकारी इमदाद का मुँह नहीं ताका। यह आपके हौसलों की बुलन्दी की एक मिसाल है। अगर मैं यह कहूँ कि आप भारत के दिमाग हैं, तो वह मुबालगा न होगा। किसी अन्य प्रान्त में इतना अच्छा संगठन हो सकता है और इतने अच्छे कार्यकर्त्ता मिल सकते हैं, इसमें मुझे सन्देह है। जिन दिमागों ने अंग्रेजी राज्य की जड़ जमाई, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा का सिक्का जमाया, जो अंग्रेजी आचार-विचार में भारत में अग्रगण्य थे और हैं; वे लोग राष्ट्रभाषा के उत्थान पर कमर बाँध लें, तो क्या कुछ नहीं कर सकते? और यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन दिमागों ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था, वे आज राष्ट्‍्रभाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नजर आते हैं और जहाँ से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहाँ से राष्ट्रीयता की तरंगे उठ रही हैं। जिन लोगों ने अंग्रेजी लिखने और बोलने में अंग्रेजों को भी मात कर दिया, यहाँ तक कि आज जहाँ कहीं देखिये अंग्रेजी पत्रों के सम्पादक इसी प्रान्त के विद्वान मिलेंगे, वे अगर चाहें तो हिन्दी बोलने और लिखने में हिन्दी वालों को भी मात कर सकते हैं। और गत वर्ष यात्रीदल के नेताओं के भाषण सुनकर मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह क्रिया शुरू हो गयी है। 'हिन्दी-प्रचारक' में अधिकांश लेख आप लोगों

ही के लिखे होते हैं और उनकी मँजी हुई भाषा और सफाई और प्रवाह पर हममें से बहुतों को रश्क आता है। और यह तब है जब राष्ट्रभाषा प्रेम अभी दिलों के ऊपरी भाग तक ही पहुँचा है, और आज भी यह प्रान्त अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व से मुक्त होना नहीं चाहता। जब यह प्रेम दिलों में व्याप्त हो जायेगा, उस वक्त उसकी गति कितनी तेज होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है? हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। कहीं भी वह इतने नंगे रूप में नहीं नज़र आती। सभ्य जीवन के हर एक विभाग में अंग्रेजी भाषा ही मानो हमारी छाती पर मूँग दल रही है। अगर आज इस प्रभुत्व को हम तोड़ सकें, तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जायगा। कैदी को बेड़ी से जितनी तकलीफ होती है, उतनी और किसी बात से नहीं होती। कैदख़ाना शायद उसके घर से ज्यादा हवादार, साफ-सुथरा होगा। भोजन भी वहाँ शायद घर के भोजन से अच्छा और स्वादिष्ट मिलता हो। बाल-बच्चों से वह कभी-कभी स्वेच्छा से बरसों अलग रहता है। उसके दण्ड की याद दिलानेवाली चीज यही बेड़ी है, जो उठते-बैठते, सोते-जागते, हँसते-बोलते, कभी उसका साथ नहीं छोड़ती, कभी उसे मिथ्या कल्पना भी करने नहीं देती, कि वह आज़ाद है। पैरों से कहीं ज्यादा उसका असर कैदी के दिल पर होता है, जो कभी उभरने नहीं पाता, कभी मन की मिठाई भी नहीं खाने पाता। अंग्रेजी भाषा हमारी पराधीनता की वही बेड़ी है, जिसने हमाने मन और बुद्धि को ऐसा जकड़ रखा है कि उनमें इच्छा भी नहीं रही। हमारा शिक्षित समाज इस बेड़ी को गले का हार समझने पर मजबूर है। यह उसका रोटियों का सवाल है। और अगर रोटियों के साथ कुछ सम्मान, कुछ गौरव, कुछ अधिकार भी मिल जाय, तो क्या कहना! प्रभुता की इच्छा तो प्राणी-मात्र में होती है। अंग्रेजी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया और हमारा शिक्षित समुदाय चिड़ियों के झुण्ड की तरह उस द्वार के अन्दर घुसकर जमीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अब कितना ही फड़फड़ाये; उसे गुलशन की हवा नसीब नहीं। मजा यह है कि इस झुण्ड की फड़-फड़ाहट बाहर निकलने के लिए नहीं, केवल जरा मनोरंजन के लिए है। उसके पर निर्जीव हो गये, और उसमें उड़ने की शक्ति नहीं रही; वह भरोसा भी नहीं रहा कि यह दाने बाहर मिलेंगे भी या नहीं। अब तो वही कफ़स है, वही कुल्हिया है और वही सैयाद।

लेकिन मित्रों, विदेशी भाषा सीखकर अपने गरीब भाइयों पर रोब जमाने के दिन बड़ी तेजी से बिदा होते जा रहे हैं। प्रतिभा का और बुद्धिबल का जो दुरुपयोग हम सदियों से करते आये हैं, जिसके बल पर हमने अपनी एक अमीरशाही स्थापित कर ली है, और अपने को साधारण जनता से अलग कर लिया है, वह अवस्था अब बदलती जा रही है। बुद्धिबल ईश्वर की देन है, और उसका धर्म प्रजा पर धौंस जमाना नहीं, उसका खून चूसना नहीं, उसकी सेवा करना है। आज शिक्षित समुदाय पर से जनता का विश्वास उठ गया है। वह उसे उससे अधिक विदेशी समझती है, जितना विदेशियों को। क्या कोई आश्चर्य है कि यह समुदाय आज दोनों तरफ से ठोकरें खा रहा है? स्वामियों की ओर से इसलिये कि वह समझते हैंमेरी चौखट के सिवा इनके लिए और कोई आश्रय नहीं, और जनता की ओर से इसलिए कि उनका इससे

कोई आत्मीय सम्बन्ध नहीं। उनका रहन-सहन, उनकी बोलचाल उनकी वेश-भूषा, उनके विचार और व्यवहार सब जनता से अलग हैं और यह केवल इसलिए कि हम अंग्रेजी भाषा के गुलाम हो गये। मानो परिस्थिति ऐसी है कि बिना अंग्रेजी भाषा की उपासना किये काम नहीं चल सकता। लेकिन अब तो इतने दिनों के तजरबे के बाद मालूम हो जाना चाहिये कि इस नाव पर बैठकर हम पार नहीं लग सकते, फिर हम क्यों आज भी उसी से चिमटे हुए हैं? अभी गत वर्ष एक इंटरयुनिवर्सिटी कमीशन बैठा था कि शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करे। उसमें एक प्रस्ताव यह भी था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी की जगह पर मातृभाषा क्यों न रखी जाय। बहुमत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्यों? इसलिए कि अंग्रेजी लिखने और बोलने में समर्थ न होंगे। मगर इन डेढ़ सौ वर्षों की घोर तपस्या के बाद आज तक भारत ने एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा, जिसका इंगलैण्ड में उतना भी मान होता, जितना एक तीसरे दर्जे के अंग्रेजी लेखक का होता है। याद नहीं, पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने कहा था, या सर तेजबहादुर सप्रू ने, कि पचास साल तक अंग्रेजी से सिर मारने के बाद आज भी उन्हें अंग्रेजी में बोलते वक्त यह संशय होता रहता है कि कहीं उनसे गलती तो नहीं हो गयी! हम आँखें फोड़-फोड़कर और कमर तोड़-तोड़कर और रक्त जला-जलाकर अंग्रेजी का अभ्यास करते हैं, उसके मुहावरे रटते हैं; लेकिन बड़े भारतीय-साधक की रचना विद्यार्थियों की स्कूली एक्सरसाइज से ज़्यादा महत्त्व नहीं रखती। अभी दो-तीन दिन हुए पंजाब के ग्रेजुएटों की अंग्रेजी योग्यता पर वहाँ के परीक्षकों ने यह आलोचना की है कि अधिकांश छात्रों में अपने विचारों के प्रकट करने की शक्ति नहीं है, बहुत तो स्पेलिंग में गलतियाँ करते हैं। और यह नतीज़ा है कम से कम बारह साल तक आँखे फोड़ने का। फिर भी हमारे लिए शिक्षा का अंग्रेजी माध्यम ज़रूरी है, यह हमारे विद्वानों की राय है। जापान, चीन और ईरान में तो शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी नहीं है। फिर भी वे सभ्यता की हरेक बात में हमसे कोसों आगे हैं, लेकिन अंग्रेजी माध्यम के बगैर हमारी नाव डूब जायगी। हमारे मारवाड़ी भाई हमारे धन्यवाद के पात्र हैं कि कम से कम जहाँ तक व्यापार में उनका सम्बन्ध है; उन्होंने कौमियत की रक्षा की है।

मित्रों, शायद मैं अपने विषय से बहक गया हूँ; लेकिन मेरा आशय केवल यह है कि हमें मालूम हो जाय, हमारे सामने कितना महान् काम है। यह समझ लीजिये कि जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायेंगे। मुझे याद नहीं आता कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़ और समुद्र राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बन्धन है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है, और उसका शीराजा बिखरने नहीं देती। जिस वक्त अंग्रेज आये, भारत की राष्ट्रभावना लुप्त हो चुकी थी। यों कहिये कि उसमें राजनैतिक चेतना की गंध तक न रह गयी थी। अंग्रेजी राज ने आकर आपको एक राष्ट्र बना दिया। आज अंग्रेजी राज बिदा हो जाय और एक-न-एक दिन तो यह होना ही है तो फिर आपका यह राष्ट्र कहाँ जायेगा? क्या यह बहुत संभव नहीं

है कि एक-एक प्रान्त एक-एक राज्य हो जाय और फिर वही विच्छेद शुरू हो जाय? वर्तमान दशा में तो हमारी कौमी चेतना को सजग और सजीव रखने के लिए अंग्रेजी राज को अमर रहना चाहिए। अगर हम एक राष्ट्र बनकर अपने स्वराज्य के लिए उद्योग करना चाहते हैं तो हमें राष्ट्रभाषा का आश्रय लेना होगा और उसी राष्ट्रभाषा के बख़्तर से हम अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकेंगे। आप उसी राष्ट्रभाषा के भिक्षु है, और इस नाते आप राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। सोचिये, आप कितना महान् काम करने जा रहे हैं। आप कानूनी बाल की खाल निकालने वाले वकील नहीं बना रहे हैं, आप शासन-मिल के मजदूर नहीं बना रहे हैं, आप एक बिखरी हुई कौम को मिला रहे हैं, आप हमारे बन्धुत्व की सीमाओं को फैला रहे हैं, भूले हुए भाइयों को गले मिला रहे हैं। इस काम की पवित्रता और गौरव को देखते हुए, कोई ऐसा कष्ट नहीं है, जिसका आप स्वागत न कर सकें। यह धन का मार्ग नहीं है, संभव है कि कीर्ति का मार्ग भी न हो; लेकिन आपके आत्मिक संतोष के लिए इससे बेहतर काम नहीं हो सकता। यही आपके बलिदान का मूल्य है। मुझे आशा है, यह आदर्श हमेशा आपके सामने रहेगा। आदर्श का महत्त्व आप खूब समझते हैं। वह हमारे रुकते हुए कदम को आगे बढ़ाता है, हमारे दिलों से संशय और संदेह की छाया को मिटाता है और कठिनाइयों में हमें साहस देता है।

राष्ट्रभाषा से हमारा क्या आशय है, इसके विषय में भी मैं आपसे दो शब्द कहूँगा। इसे हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए, या उर्दू कहिए, चीज़ एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं। ईश्वर भी वही है, जो खुदा है, और राष्ट्रभाषा में दोनों के लिए समान रूप से सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। अगर हमारे देश में लोगों की काफी तादाद निकल आये तो, जो ईश्वर का 'गाड' कहते हैं, तो राष्ट्रभाषा उनका भी स्वागत करेगी। जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानी सभी जातियाँ मौजूद हैं, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनायी जा सकती है। उसका अंग-भंग करके उसका कायापलट करना होगा। प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असम्भव है, हास्यास्पद है। हमारे देखते-देखते सैकड़ों विदेशी शब्द भाषा में आ घुसे, हम उन्हें रोक नहीं सकते। उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है। वह भाषा के विकास में बाधक होगी। वृक्षों को सीधा और सुडौल बनाने के लिए पौधों को एक थूनी का सहारा दिया जाता है। आप विद्वानों पर ऐसा नियन्त्रण रख सकते हैं कि अश्लील, कुरुचिपूर्ण, कर्णकटु, भद्दे शब्द व्यवहार में न आ सकें; पर यह नियंत्रण केवल पुस्तकों पर ही हो सकता है। बोलचाल पर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखना मुश्किल होगा। मगर विद्वानों का भी अजीब दिमाग है। प्रयाग में विद्वानों और पण्डितों की सभा 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में तिमाही, सेहमाही और त्रैमासिक शब्दों पर बरसों से मुबाहसा हो रहा है और अभी तक फैसला नहीं हुआ। उर्दू के हामी 'सेहमाही' की ओर हैं, हिन्दी के हामी 'त्रैमासिक' की ओर, बेचारा 'तिमाही' जो सबसे सरल, आसानी से बोला और समझा

जानेवाला शब्द है, उसका दोनों ही ओर से बहिष्कार हो रहा है। भाषा सुन्दरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके जीवन का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान बनाइये, कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा, जो किसी खास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिए, कि हमारी भाषा अधिक से अधिक आदमी समझ सकें। अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें, तो लिखते समय भी हम शब्द चातुरी के मोह में न पड़ेंगे। यह गलत है, कि फारसी शब्दों से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनका अर्थ निकालना पण्डितों के लिए भी लोहे के चने चबाना है। वही शब्द सरल है, जो व्यवहार में आ रहा है । इससे कोई बहस नहीं कि वह तुर्की है, या अरबी, या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी में क्यों इतना सौतिया डाह है, यह मेरी समझ में नहीं आता। अगर एक समुदाय के लोगों को 'उर्दू' नाम प्रिय है तो उन्हें उसका इस्तेमाल करने दीजिए। जिन्हें 'हिन्दी' नाम से प्रेम है, वह हिन्दी ही कहें। इसमें लड़ाई काहे की? एक चीज के दो नाम देकर ख्वामख्वाह आपस में लड़ना और उसे इतना महत्त्व दे देना कि वह राष्ट्र की एकता में बाधक हो जाय, यह मनोवृत्ति रोगी और दुर्बल मन की है। मैं अपने अनुभव से इतना कह सकता हूँ, कि उर्दू को राष्ट्रभाषा के स्टैण्डर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं हैं। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है, जो कौमियत के मतवाले हैं। कट्टर पन्थियों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। उर्दू का और मुसलिम संस्कृति का कैम्प आज अलीगढ़ है। वहाँ उर्दू और फारसी के प्रोफेसर और अन्य विषयों के प्रोफेसरों से मेरी जो बातचीत हुई, उससे मुझे मालूम हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से भी वे लोग उतने ही बेजार हैं, जितने पण्डिताऊ भाषा से, और कौमी-भाषा-संघ आन्दोलन में शरीक होने के लिए दिल से तैयार हैं। मैं यह भी माने लेता हूँ के मुसलमानों का एक गिरोह हिन्दुओं से अलग रहने में ही अपना हित समझता हैहालाँकि उस गिरोह का जोर और असर दिन-दिन कम होता जा रहा है और वह अपनी

भाषा को अरबी से गले तक ठूँस देना चाहता है, तो हम उससे क्यों झगड़ा करें? क्या आप समझते हैं, ऐसी जटिल भाषा मुसलिम जनता में भी प्रिय हो सकती है? कभी नहीं। मुसलमानों में वही लेखक सर्वोपरि हैं, जो आमफहम भाषा लिखते हैं। मौलवियाऊ भाषा लिखनेवालों के लिए यहाँ भी स्थान नहीं है। मुसलमान दोस्तों से भी मुझे कुछ अर्ज़ करने का हक है क्योंकि मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुज़रा है और अब भी मैं जितना उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नहीं लिखता, और कायस्थ होने और बचपन से फारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है, उतनी हिन्दी नहीं है। मैं पूछता हूँ, आप इसे हिन्दी की गर्जनज़दनी समझते हैं? क्या आपको मालूम है, और नहीं है तो होना चाहिए, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर, जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया (व्यावहारिक बीज सदियों पहले पड़ चुका था) वह अमीर खुसरो था? क्या आपको मालूम है, कम से कम पाँच सौ मुसलमान शायरों ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है, जिनमें कई तो चोटी के शायर हैं? क्या

आपको मालूम है, अकबर, जहाँगीर और औरंगजेब तक हिन्दी की कविता का ज़ौक रखते थे और औरंगजेब ने ही आमों का नाम 'रसना-विलास' और 'सुधा-रस' रखा था? क्या आपको मालूम है, आज भी हसरत और हफीज जालन्धरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी में तबाआजमाई करते हैं? क्या आपको मालूम है हिन्दी में हजारों शब्द, हजारों क्रियाएँ अरबी और फारसी से आयी हैं और ससुराल में आकर घर की देवी हो गयी हैं? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को उर्दू से अलग समझते हैं, तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइन्साफी करते हैं। उर्दू शब्द कब और कहाँ उत्पन्न हुआ; इसकी कोई तारीखी सनद नहीं मिलती। क्या आप समझते हैं वह 'बड़ा खराब आदमी है' और वह 'बड़ा दुर्जन मनुष्य है' दो अलग भाषाएँ हैं? हिन्दुओं को 'खराब' भी अच्छा लगता है और 'आदमी' तो अपना भाई ही है। फिर मुसलमान को 'दुर्जन' क्यों बुरा लगे, और 'मनुष्य' क्यों शत्रु-सा दीखे? हमारी कौमी भाषा में दुर्जन और सज्जन, उम्दा और खराब दोनों के लिए स्थान है, वहाँ तक जहाँ तक कि उसकी सुबोधता में बाधा नहीं पड़ती। इसके आगे हम न उर्दू के दोस्त हैं, न हिन्दी के। मजा यह कि 'हिन्दी' मुसलमानों का दिया हुआ नाम है, और अभी पचास साल पहले तक जिसे आज उर्दू कहा जा रहा है, उसे मुसलमान भी हिन्दी कहते थे। और आज 'हिन्दी' मरदूद है। क्या आपको नजर नहीं आता, कि 'हिन्दी' एक स्वाभाविक नाम है? इंगलैंडवाले इंगलिश बोलते हैं, फ्रांसवाले फ्रेंच, जर्मनीवाले जर्मन, फारसवाले फारसी, तर्कीवाले तुर्की, अरबवाले अरबी, फिर हिन्दवाले क्यों न हिन्दी बोलें? उर्दू तो न काफिये में आती है न रदीफ में, न बहर में न वजन में। हाँ, हिन्दुस्तान का नाम उर्दूस्तान रखा जाए, तो बेशक यहाँ की कौमी भाषा उर्दू होगी। कौमी भाषा के उपासक नामों से बहस नहीं करते, वह तो असलियत से बहस करते हैं। क्यों दोनों भाषाओं का कोष एक नहीं हो जाता? हमें दोनों भाषाओं में एक आम लुग़त (कोष) की जरूरत है, जिसमें आमफहम शब्द जमा कर दिये जायँ। हिन्दी में तो मेरे मिश्र पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने किसी हद तक यह जरूरत पूरी कर दी है। इस तरह का एक लुग़त उर्दू में भी होना चाहिए। शायद वह कौम कौमी-भाषा-संघ बनने तक मुल्तवी रहेगा। मुझे अपने मुसलिम दोस्तों से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आमफहम शब्दों से भी परहेज करते हैं; हालाँकि हिन्दी में आमफहम फारसी के शब्द आजादी से व्यवहार किये जाते हैं।

लेकिन प्रश्न उठता है कि राष्ट्रभाषा कहाँ तक हमारी जरूरतें पूरी कर सकती है? उपन्यास, कहानियाँ, यात्रा-वृत्तान्त, समाचार-पत्रों के लेख, आलोचना अगर बहुत गूढ़ न हो, यह सब तो राष्ट्रभाषा में अभ्यास कर लेने से लिखे जा सकते हैं; लेकिन साहित्य में केवल इतने ही विषय तो नहीं है। दर्शन और विज्ञान की अनन्त शाखाएँ भी तो है जिनको आप राष्ट्रभाषा में नहीं ला सकते। साधारण बातें तो साधारण और सरल शब्दों में लिखी जा सकती हैं। विवेचानात्मक विषयों में यहाँ तक कि उपन्यास में भी जब वह मनोवैज्ञानिक हो जाता है, आपको मजबूर होकर संस्कृत या अरबी-फारसी शब्दों की शरण लेनी पड़ती है। अगर हमारी राष्ट्रभाषा सर्वांगपूर्ण नहीं है, और उसमें आप हर एक विषय, हर एक भाव नहीं प्रकट कर सकते, तो उसमें

यह बड़ा भारी दोष है, और यह हम सभी का कर्त्तव्य है कि हम राष्ट्रभाषा को उसी तरह सर्वांगपूर्ण बनावें, जैसी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषाएँ हैं। यों तो अभी हिन्दी और उर्दू अपने सार्थक रूप में भी पूर्ण नहीं है। पूर्ण क्या, अधूरी भी नहीं हैं। जो राष्ट्रभाषा लिखने का अनुभव रखते हैं, उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि एक-एक भाव के लिए उन्हें कितना सिर मगजन करना पड़ता है। सरल शब्द मिलते ही नहीं, मिलते हैं, तो भाषा में खपते नहीं, भाषा का रूप बिगाड़ देते हैं, खीर में नमक के डले की भाँति आकर मजा किरकिरा कर देते हैं। इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि हमारी जनता में भाषा का ज्ञान बहुत ही थोड़ा है और आमफहम शब्दों की संख्या बहुत ही कम है। जब तक जनता में शिक्षा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उनकी व्यावहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उनके समझने के लायक भाषा में तात्त्विक विवेचनाएँ नहीं कर सकते। हमारी हिन्दी भाषा ही अभी सौ बरस की नहीं हुई, राष्ट्रभाषा तो अभी शैशवावस्था में है, और फिलहाल यदि हम उसमें सरल साहित्य ही लिख सकें तो हमको संतुष्ट होना चाहिये। इसके साथ ही हमें राष्ट्रभाषा का कोष बढ़ाते रहना चाहिये। वही संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्द, जिन्हें देखकर आज भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जायेंगे, तो उनका हौआपन जाता रहेगा। इस भाषा-विस्तार की क्रिया, धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ हमें विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे विद्वानों का एक बोर्ड बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्रभाषा की ज़रूरत के कायल हैं। उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी, बंगला, मराठी, तमिल आदि सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रखे जायँ और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज करने का काम उनको सौंपा जाय। अभी तक हमने अपने मनमाने ढंग से इस आन्दोलन को चलाया है। औरों का सहयोग प्राप्त करने का यत्न नहीं किया। आपका यात्री-मंडल भी हिन्दी के विद्वानों तक ही रह गया। मुसलिम केन्द्रों में जाकर मुसलिम विद्वानों की हमदर्दी हासिल करने की उसने कोशिश नहीं की? हमारे विद्वान् लोग तो अँगरेजी में मस्त हैं। जनता के पैसे से दर्शन और विज्ञान और सारी दुनिया की विद्याएँ सीखकर भी वे जनता की तरफ से आँखे बन्द किये बैठे हैं। उनकी दुनिया अलग है, उन्होंने उपजीवियों की मनोवृत्ति पैदा कर ली है। काश उनमें भी राष्ट्रीय चेतना होती, काश वे भी जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य को महसूस करते, तो शायद हमारा काम सरल हो जाता। जिस देश में जन शिक्षा की सतह इतनी नीची हो, उसमें अगर कुछ लोग अँगरेजी में अपनी विद्वत्ता का सेहरा बाँध ही लें, तो क्या? हम तो तब जानें, जब विद्वत्ता के साथ-साथ दूसरों को भी ऊँची सतह पर उठाने का भाव मौजूद हो। भारत में केवल अंग्रेजीदाँ ही नहीं रहते। हजार में 999 आदमी अंग्रेजी का अक्षर भी नहीं जानते। जिस देश का दिमाग विदेशी भाषा में सोचे और लिखे, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नहीं समझता तो क्या वह अन्याय करता है? जब तक आपके पास राष्ट्रभाषा नहीं, आपका कोई राष्ट्र भी नहीं। दोनों में कारण और कार्य का सम्बन्ध है। राजनीति के माहिर अंग्रेज शासकों को आप राष्ट्र की हाँक लगाकर धोखा नहीं दे सकते। वे आपकी पोल जानते हैं और आपके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं।

अब हमें यह विचार करना है कि राष्ट्रभाषा का प्रचार कैसे बढ़े। अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारे नेताओं ने इस तरफ मुजरिमाना गफलत दिखायी है। वे अभी तक इसी भ्रम में पड़े हुए हैं कि यह कोई बहुत छोटा-मोटा विषय है, जो छोटे-मोटे आदमियों के करने का है, और उनके जैसे बड़े-बड़े आदमियों को इतनी कहाँ फुरसत कि वह झंझट में पड़ें। उन्होंने अभी तक इस काम का महत्त्व नहीं समझा, नहीं तो शायद यह उनके प्रोग्राम की पहली पाँति में होता। मेरे विचार में जब तक राष्ट्र में इतना संगठन, इतना ऐक्य, इतना एकात्मपन न होगा कि वह एक भाषा में बात कर सके, तब तक उसमें यह शक्ति भी न होगी कि स्वराज प्राप्त कर सके। ग़ैरमुमकिन है। जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों में खड़े होते हैं और फतह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुज़ारिश करूँगा कि हजरत उस तरह के एक सौ एलेक्शन आयेंगे और निकल जायेंगे, आप कभी हारेंगे, कभी जीतेंगे, लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अंग्रेजी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें लेकिन आपकी आवाज में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी न करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है। बच्चों के रोने पर खिलौने और मिठाइयाँ मिलती हैं। वह शायद आपको भी मिल जावें, जिसमें आपकी चिल्ल-पों से माता-पिता के काम में विघ्न न पड़े। इस काम को तुच्छ न समझिये। यही बुनियाद है, आपका अच्छे से अच्छा गारा, मसाला, सीमेंट और बड़ी से बड़ी निर्माण-योग्यता जब तक यहाँ खर्च न होगी, आपकी इमारत न बनेगी। घरौंदा शायद बन जाय, जो एक हवा के झोंके में उड़ जायगा। दरअसल अभी हमने जो कुछ किया है, वह नहीं के बराबर है। एक अच्छा-सा राष्ट्रभाषा का विद्यालय तो हम खोल नहीं सके। हर साल सैकड़ों स्कूल खुलते हैं, जिनकी मुल्क को बिलकुल ज़रूरत नहीं। 'उसमानिया विश्वविद्यालय' काम की चीज है, अगर वह उर्दू और हिन्दी के बीच की खाई को और चौड़ी न बना दे। फिर भी मैं उसे और विश्वविद्यालयों पर तरजीह देता हूँ। कम से कम अंग्रेजी की गुलामी से तो उसने अपने को मुक्त कर लिया। और हमारे जितने विद्यालय हैं सभी गुलामी के कारखाने हैं जो लड़कों को स्वार्थ का, जरूरतों का, नुमाइश का, अकर्मण्यता का गुलाम बनाकर छोड़ देते हैं और लुत्फ यह है, कि यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है। इस शिक्षा की बाजारी कीमत शून्य के बराबर है, फिर भी हम क्यों भेड़ों की तरह उसके पीछे दौड़े चले जा रहे हैं? अंग्रेजी शिक्षा हम शिष्टता के लिए नहीं ग्रहण करते। इसका उद्देश्य उदर है। शिष्टता के लिए हमें अंग्रेजी के सामने हाथ फैलाने की ज़रूरत नहीं। शिष्टता हमारी मीरास है, शिष्टता हमारी घुट्टी में पड़ी है। हम तो कहेंगे, हम ज़रूरत से ज़्यादा शिष्ट हैं। हमारी शिष्टता दुर्बलता की हद तक पहुँच गयी है। पश्चिमी शिष्टता में जो कुछ है, वह उद्योग और पुरुषार्थ है। हमने यह चीजें तो उसमें से छाँटी नहीं। छाँटा क्या, लोफरपन, अहंकार, स्वार्थान्धता, बेशर्मी, शराब और दुर्व्यसन। एक मूर्ख किसान के पास जाइये। कितना नम्र, कितना मेहमाँनवाज़, कितना ईमानदार, कितना विश्वासी। उसी का भाई टामी है, पश्चिमी शिष्टता का सच्चा नमूना, शराबी, लोफर, गुण्डा, अक्खड़, हया से खाली। शिष्टता सीखने के लिए हमें अँग्रेजों की गुलामी करने की ज़रूरत नहीं। हमारे पास

ऐसे विद्यालय होने चाहिए जहाँ ऊँची से ऊँची शिक्षा राष्ट्रभाषा में सुगमता से मिल सके। इस वक्त अगर ज्यादा नहीं तो एक ऐसा विद्यालय किसी केन्द्र-स्थान में होना ही चाहिए। मगर हम आज भी वही भेड़चाल चले जा रहे हैं, वही स्कूल, वही पढ़ाई। कोई भला आदमी ऐसा पैदा नहीं होता, जो एक राष्ट्रभाषा का विद्यालय खोले। मेरे सामने दक्खिन से बीसों विद्यार्थी भाषा पढ़ने के लिए काशी गये; पर वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं। वही हाल अन्य स्थानों में भी है। बेचारे इधर-उधर ठोकरें खाकर लौट आये। अब कुछ विद्यार्थीयों की शिक्षा का प्रबन्ध हुआ है, मगर जो काम हमें करना है, उसके देखते नहीं के बराबर है। प्रचार के और तरीकों में अच्छे ड्रामों का खेलना अच्छे नतीजे पैदा कर सकता है। इस विषय में हमारा सिनेमा प्रशंसनीय काम कर रहा है, हालाँकि उसके द्वारा जो कुरुचि, जो गन्दापन, जो विलास-प्रेम, जो कुवासना फैलायी जा रही है, वह इस काम के महत्त्व को मिट्टी में मिला देती है। अगर हम अच्छे भावपूर्ण ड्रामे स्टेज पर कर सकें, तो उससे अवश्य प्रचार बढ़ेगा। हमें सच्चे मिशनरियों की जरूरत है और आपके ऊपर इस मिशन का दायित्व है। बड़ी मुश्किल यह है कि जब तक किसी वस्तु को उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई न दे, कोई उसके पीछे क्यों अपना समय नष्ट करें? अगर हमारे नेता और विद्वान् जो राष्ट्रभाषा के महत्त्व से बेखबर नहीं हो सकते, राष्ट्रभाषा का व्यवहार कर सकते तो जनता में उस भाषा की ओर विशेष आकर्षण होता। मगर, यहाँ तो अंग्रेजियत का नशा सवार है। प्रचार का एक और साधन है कि भारत के अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के पत्रों को हम इस पर अमादा कर सकें कि वे अपने पत्रों के एक दो कालम नियमित रूप से राष्ट्रभाषा के लिए दे सकें। अगर हमारी प्रार्थना वे स्वीकार करें, तो उससे भी बहुत फ़ायदा हो सकता है। हम तो उस दिन का स्वप्न देख रहे हैं, जब राष्ट्रभाषा पूर्ण रूप से अंग्रेजी का स्थान ले लेगा, जब हमारे विद्वान् राष्ट्रभाषा में अपनी रचनाएँ करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूना सभी स्थानों से राष्ट्रभाषा के उत्तम ग्रन्थ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भू-मण्डल की भाषाओं और साहित्यों की मजलिस में हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव स्थान मिलेगा, जब हम मँगनी के सुन्दर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही सही, संसार साहित्य में प्रवेश करेंगे। यह स्वप्न पूरा होगा या अन्धकार में विलीन हो जायगा, इसका फैसला हमारी राष्ट्रभावना के हाथ है। अगर हमारे हृदय में वह बीज पड़ गया है, हमारी सम्पूर्ण प्राण-शक्ति से फले-फूलेगा। अगर केवल जिह्वा तक ही है, तो सूख जाएगा।

हिन्दी और उर्दू-साहित्य की विवेचना का यह अवसर नहीं है, और करना भी चाहें, तो समय नहीं। हमारा नया साहित्य अन्य प्रान्तीय साहित्यों की भाँति ही अभी सम्पन्न नहीं है। अगर सभी प्रांतों का साहित्य हिन्दी में आ सके, तो शायद वह सम्पन्न कहा जा सके। बँगला साहित्य से तो हमने उसके प्रायः सारे रत्न ले लिये हैं और गुजराती, मराठी साहित्य से भी थोड़ी-बहुत सामग्री हमने ली है। तमिल, तेलगु आदि भाषाओं से अभी हम कुछ नहीं ले सके, पर आशा करते हैं कि शीघ्र ही हम इस खजाने पर हाथ बढ़ायेंगे, बशर्ते कि घर के भेदियों ने हमारी सहायता की। हमारा प्राचीन साहित्य सारे का सारा काव्यमय है, और यद्यपि उसमें शृंगार

और भक्ति की मात्रा ही अधिक है, फिर भी बहुत कुछ पढ़ने योग्य है। भक्त कवियों की रचनाएँ देखनी हैं, तो तुलसी, सूर और मीरा आदि का अध्ययन कीजिये, ज्ञान में कबीर अपना सानी नहीं रखता और शृंगार तो इतना अधिक है कि उसने एक प्रकार से हमारी पुरानी कविता को कलंकित कर दिया है। मगर, वह उन कवियों का दोष नहीं, परिस्थितियों का दोष है जिनके अन्दर उन कवियों को रहना पड़ा। उस जमाने में कला दरबारों के आश्रय से जीती थी और कलाविदों को अपने स्वामियों की रुचि का ही लिहाज़ करना पड़ता था। उर्दू कवियों का भी यही हाल है। यही उस जमाने का रंग था। हमारे रईस लोग विलास में मग्न थे, और प्रेम, विरह और वियोग के सिवा उन्हें कुछ न सूझता था। अगर कहीं जीवन का नक्शा है भी, तो यह कि संसार चंद-रोजा है, अनित्य है, और यह दुनिया दुःख का भण्डार है और इसे जितनी जल्दी छोड़ दो, उतना ही अच्छा। इस थोथे वैराग्य के सिवा और कुछ नहीं। हाँ, सूक्तियों और सुभाषितों की दृष्टि से वह अमूल्य है। उर्दू की कविता आज भी उसी रंग पर चली जा रही है, यद्यपि विषय में थोड़ी-सी गहराई आ गयी है। हिन्दी में नवीन ने प्राचीन से बिलकुल नाता तोड़ लिया है। और आज की हिन्दी कविता भावों की गहराई, आत्मव्यंजना और अनुभूतियों के एतबार से प्राचीन कविता से कहीं बढ़ी हुई है। समय के प्रभाव ने उस पर भी अपना रंग जमाया है और वह प्रायः निराशावाद का रुदन है। यद्यपि कवि उस रुदन से दुःखी नहीं होता, बल्कि उसने अपने धैर्य और संतोष का दायरा इतना फैला दिया है कि वह बड़े से बड़े दुःख और बाधा का स्वागत करता है। और चूँकि वह उन्हीं भावों को व्यक्त करता है, जो हम सभी के हृदयों में मौजूद हैं, उसकी कविता में मर्म को स्पर्श करने की अतुल शक्ति है। यह जाहिर है कि अनुभूतियाँ सबके पास नहीं होतीं और जहाँ थोड़े-से कवि अपने दिल का दर्द कहते हैं, बहुत से केवल कल्पना के आधार पर चलते हैं।

अगर आप दुःख का विकास चाहते हैं, तो महादेवी, 'प्रसाद', पंत, सुभद्रा, 'लली', 'द्विज' 'मिलिन्द', 'नवीन', पं. माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की रचनाएँ पढ़िये। मैंने केवल उन कवियों के नाम दिये हैं, जो मुझे याद आये, नहीं तो और भी ऐसे कवि हैं, जिनकी रचनाएँ पढ़कर आप अपना दिल थाम लेंगे, दुःख के स्वर्ग में पहुँच जायेंगे। काव्यों का आनन्द लेना चाहें तो मैथिलीशरण गुप्त और त्रिपाठीजी के काव्य पढ़िये। ग्राम्य-साहित्य का दफीना भी त्रिपाठीजी ने खोद कर आपके सामने रख दिया है। उसमें से जितने रत्न चाहे शौक से निकाल ले जाइये और देखिये उस देहाती गान में कवित्व की कितनी माधुरी और कितना अनूठापन है। ड्रामे का शौक है, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक और क्रांतिकारी नाटक पढ़िये। ऐतिहासिक और भावमय नाटकों की रुचि है, तो 'प्रसाद' जी को लगायी हुई पुष्पवाटिकाओं की सैर कीजिए। उर्दू में सबसे अच्छा नाटक जो मेरी नज़र से गुज़रा, वह 'ताज' का रचा हुआ 'अनारकली' है। हास्यरस के पुजारी हैं, तो अन्नपूर्णानन्द की रचनाएँ पढ़िये। राष्ट्रभाषा के सच्चे नमूने देखना चाहते हैं, तो जी.पी. श्रीवास्तव के हँसानेवाले नाटकों की सैर कीजिये। उर्दू में हास्य-रस के कई ऊँचे दरजे के लेखक हैं और पंडित रतननाथ दर तो इस रंग में कमाल कर गये हैं। उमर खैयाम

का मजा हिन्दी में लेना चाहें तो 'बच्चन' कवि की मधुशाला में जा बैठिये। उसकी महक से ही आपको सरूर आ जाएगा। गल्प-साहित्य में 'प्रसाद', 'कौशिक', जैनेन्द्र, 'भारतीय', 'अज्ञेय', विशेश्वर आदि की रचनाओं में आप वास्तविक जीवन की झलक देख सकते हैं। उर्दू के उपन्यासकारों में शरर, मिर्जा रुसवा, सज्जाद हुसैन, नजीर अहमद आदि प्रसिद्ध हैं, और उर्दू में राष्ट्रभाषा के सबसे अच्छे लेखक ख्वाजा हसन निजामी हैं, जिनकी कलम में दिल को हिला देने की ताकत है। हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र में अभी अच्छी चीजें कम आयी हैं, मगर लक्षण कह रहे हैं कि नयी पौध इस क्षेत्र में नये उत्साह, नये दृष्टिकोण, नये सन्देश के साथ आ रही है। एक युग की इस तरक्की पर हमें लज्जित होने का कारण नहीं है।

मित्रों, मैं आपका बहुत-सा समय ले चुका; लेकिन एक झगड़े की बात बाकी है, जिसे उठाते हुए मुझे डर लग रहा है। इतनी देर तक उसे टालता रहा पर अब उसका भी कुछ समाधान करना लाज़िम है। वह राष्ट्रलिपि का विषय है। बोलने की भाषा तो किसी तरह एक हो सकती है; लेकिन लिपि कैसे एक हो? हिन्दी और उर्दू लिपियों में तो पूरब-पश्चिम का अन्तर है। मुसलमानों को अपनी फारसी लिपि उतनी ही प्यारी है, जितनी हिन्दुओं को अपनी नागरी लिपि। वह मुसलमान भी जो तमिल, बँगला या गुजराती लिखते-पढ़ते हैं, उर्दू को धार्मिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं; क्योंकि अरबी और फारसी लिपि में वही अन्तर है, तो नागरी और बँगला में है, बल्कि उससे भी कम। इस फारसी लिपि में उनका प्राचीन गौरव, उनकी संस्कृति, उनका ऐतिहासिक महत्त्व सब कुछ भरा हुआ है। उसमें कुछ कचाइयाँ हैं, तो खूबियाँ भी हैं, जिनके बल पर वह अपनी हस्ती कायम रख सकी है। वह एक प्रकार का शार्टहैंड है। हमें अपनी राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि का प्रचार मित्र-भाव से करना है, इसका पहला कदम यह है कि हम नागरी लिपि का संगठन करें। बंगला, गुजराती, तमिल आदि अगर नागरी लिपि स्वीकार कर लें, तो राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जायगा और कुछ नहीं तो केवल संख्या ही नागरी को प्रधानता दिला देगी। और हिन्दी लिपि का सीखना इतना आसान है और इस लिपि के द्वारा उनकी रचनाओं और पत्र का प्रचार इतना ज्यादा हो सकता है कि मेरा अनुमान है, वे उसे आसानी से स्वीकार कर लेंगे। हम उर्दू लिपि को मिटाने तो नहीं जा रहे हैं। हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमारी एक कौमी लिपि हो जाय। अगर सारा देश नागरी लिपि का हो जायगा, तो सम्भव है मुसलमान भी उस लिपि को कुबूल कर लें। राष्ट्रीय चेतना उन्हें बहुत दिन तक अलग न रहने देगी। क्या मुसलमानों में यह स्वाभाविक इच्छा नहीं होगी कि उनके पत्र और उनकी पुस्तकें सारे भारतवर्ष में पढ़ी जायँ? हम तो किसी लिपि को भी मिटाना नहीं चाहते। हम तो इतना ही चाहते हैं कि अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार नागरी में हो। मुसलमानों में राजनैतिक जागृति के साथ यह प्रश्न आप हल हो जायगा। यू.पी. में यह आन्दोलन भी हो रहा है कि स्कूलों में उर्दू के छात्रों को हिन्दी और हिन्दी के छात्रों को उर्दू का इतना ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय कि वह मामूली पुस्तकें पढ़ सकें और खत लिख सकें। अगर वह आन्दोलन सफल हुआ, जिसकी आशा है, तो प्रत्येक बालक हिन्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों से परिचित हो जायगा। और जब

भाषा एक हो जायगी तो हिन्दी अपनी पूर्णता के कारण सर्वमान्य हो जायगी और राष्ट्रीय योजनाओं में उसका व्यवहार होने लगेगा। हमारा काम यही है कि जनता में राष्ट्र चेतना को इतना सजीव कर दें कि वह राष्ट्र हित के लिए छोटे-छोटे स्वार्थों को बलिदान करना सीखे। आपने इस काम का बीड़ा उठाया है, और मैं जानता हूँ आपने क्षणिक आवेश में आकर यह साहस नहीं किया है बल्कि आपका इस मिशन में पूरा विश्वास है, और आप जानते हैं कि यह विश्वास कि हमारा पक्ष सत्य और न्यास का पक्ष है, आत्मा को कितना बलवान बना देता है। समाज में हमेशा ऐसे लोगों की कसरत होती है जो खाने-पीने, धन बटोरने और जिन्दगी के अन्य धन्धों में लगे रहते हैं। यह समाज की देह है। उसके प्राण वह गिने-गिनाये मनुष्य हैं, जो उसकी रक्षा के लिए सदैव लड़ते रहते हैंकभी अन्धविश्वास से, कभी मूर्खता से, कभी कुव्यवस्था से, कभी पराधीनता से। इन्हीं लड़न्तियों के साहस और बुद्धि पर समाज का आधार है। आप इन्हीं सिपाहियों में हैं। सिपाही लड़ता है, हारने-जीतने की उसे परवाह नहीं होती। उसके जीवन का ध्येय ही यह है कि वह बहुतों के लिए अपने को होम कर दे आपको अपने सामने कठिनाइयों की फौजें खड़ी नज़र आयेंगी। बहुत सम्भव है, आपको उपेक्षा का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी और पागल भी कह सकते हैं। कहने दीजिए। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप में से हरेक एकाएक सेना नायक हो जायगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि लोगों को आप में विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें, हर एक पन्थ की विजय उसके प्रचारकों के आदर्श-जीवन पर ही निर्भर होती है। अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में ऊँचे-से-ऊँचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे।

(दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास के चतुर्थ उपाधिवितरणोत्सव के अवसर पर, 29 दिसम्बर, 1934 ई. को दिया गया दीक्षान्त भाषण।)

'साहित्य का उद्देश्य' से साभार

''विदेशी भाषा का किसी भी स्वतंत्र राष्ट्र के लिए राजकाज और शिक्षा की भाषा होना सांस्कृतिक दासता है।''

वॉल्टर केनिंग

भारतीय साहित्य को अनुवाद साहित्य की देन

रमेशचन्द्र शाह

'भारतीय साहित्य' कहते ही देश और काल के जिस विराट फलक का और उसमें राशिभूत वाङ्निधि का बोध होता है, उसे देखते हुए प्रस्तुत विषय की अवधारणा ही मुझ सरीखे लेखक को सहमा देने को काफ़ी है। विषय के साँगोपाँग निर्वाह की तो बात ही क्या। इसके बावजूद यदि यह दुस्साहस करना ही है तो दो ही बातें मेरे पक्ष में हो सकती हैंएक तो इस सूक्ति पर सहज विश्वास कि भारतीय साहित्य मूलतया एक है, भले ही वह रचा अनेक भाषाओं में जाता हो; और, दूसरे यह मानकर चलने की सुविधा कि मुझसे जो भी अपेक्षा की जा रही है वह एक रचनाधर्मी लेखक होने के नाते ही की जा रही है। यानी, कि वह अपेक्षा व्यापक सर्वेक्षण जैसी चीज़ की नहीं, रचनाकर्म और अनुवादकर्म के संबंध को लेकर एक लेखक के निज़ी अनुभव और सोच को भी कहीं सार्थक और प्रासंगिक मानकर की जा रही है।

दरअसल यह शीर्षक देखते ही मन में एक दूसरा शीर्षक कौंधा''योरोपीय साहित्य को अनुवाद साहित्य की देन'' और लगा कि इस बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है, कहा गया है और वे सारे तथ्य सर्वविदित, बल्कि अतिपरिचित हैं। इतने परिचित कि ''भारतीय साहित्य को अनुवाद साहित्य की देन'' यह विषय अपने आपमें अल्प-परिचित या कि अपरिचित लगने लगता है। यह मेरी अज्ञता या अल्पज्ञता हो सकती है, परन्तु प्राचीनकाल, यहाँ तक कि मध्यकाल में भी अनुवाद-साहित्य के विषय में सोचते हुए जो भी उदाहरण सोच में उभरते हैं, वे संस्कृत या पाली से योरोपीय भाषाओं और सुदूर पूर्व एशियाई भाषाओं में हुए अनुवादों के हैं; उक्त भाषाओं से संस्कृत या पाली या किसी दूसरी भारतीय भाषा में हुए अनुवादों के नहीं। यानी, कुल मिलाकर जो तस्वीर उभरती है, वह इकतरफा है। विश्व-साहित्य को भारतीय साहित्य के अनुवादों की देन आज तो जगजाहिर प्रतीत होती है, किन्तु स्वयं भारतीय साहित्य को विश्व की तत्कालीन जानी-मानी भाषाओं में उपलब्ध साहित्य की देन क्या है उन भाषाओं से कितना कुछ भारतीय भाषाओं से अनूदित होकर हम तक पहुँचा, इस बारे में ख़ास कुछ हाथ नहीं लगता। यानी कि काफी दूर तककहना चाहिए, ठेठ आधुनिक काल तकइस विषय में हमारी जो छवि बनती है, वह एक दाता संस्कृति और साहित्य की है, ग्रहीता (या, दूसरे शब्दों में, अनुवाद करने वाली) संस्कृति या साहित्य की नहीं। इस पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यह अपनी सांस्कृतिक ज़रूरतों की पूर्ति में पूर्णतः आत्मनिर्भर संस्कृति का द्योतक है या कि एक आत्मतुष्ट और दूसरी सभ्यताओं के प्रति उदासीन संस्कृति का?

यह तो हुई बात भारतीय साहित्य नाम की इकाई के विषय की तत्कालीन तुलनीय

साहित्यिक इकाइयों के साथ संबंध की। पर यदि हम स्वयं भारतीय साहित्य के भीतर के दृश्य पर यानी भारतीय भाषाओं और साहित्यों के परस्पर संबंध पर नज़र गड़ाएँ तो क्या दृष्टिगोचर होता है? इतने विराट् वैविध्य को सम्हालने, एकजुट करने और एकजुट रखने का सर्वथा कारगर उद्यम आखिर कैसे चला या चलाया गया? उस प्रक्रिया में प्रकट या प्रच्छन्न अनुवाद कर्म कीअनुवाद साहित्य की कितनी और कैसी भूमिका रही होगी? ऐसी कौन-सी भारतीय भाषा है, जिसकी अपनी **रामायण** या **महाभारत** न हो? यह तो शोधकर्ता ही बताएँगे कि कब और किन-किन भाषाओं में संस्कृत के क्लासिक्स के बाक़ायदा अनुवाद किए गए और स्वयं अंतर्भारतीय स्तर पर भाषाओं के बीच ऐसा कितना आदान-प्रदान हुआ जिसे अनुवाद-साहित्य का नाम असंदिग्ध रूप से दिया जा सके। पर, इस तथ्यात्मक जानकारी के अभाव में मेरे जैसा लेखक जो महसूस करता है, वह यह है कि अनुवाद हमारी दिलचस्पी या विशेषज्ञता के केन्द्र में उस तरह कभी रहा ही नहीं। जो प्रक्रिया कार्यरत दिखती है, सदियों से विस्तृत इस सांस्कृतिक पारस्पर्य और आदान-प्रदान में, वह अनुवाद की अपेक्षा आत्मसात्करण और पुनर्रचना की है, विशुद्ध और विशेषीकृत अनुवाद की उस तरह नहीं।

इस सिलसिले में यह भी गौरतलब है कि अपने यहाँ जो जितना ही बड़ा कवि है, वह संस्कृत से जो भी लेता है, जम के लेता है। इलियट ने कहीं लिखा है कि ''माइनर पोएट्स शब्द या वाक्यांशों की नकल करते हैं; बड़े कवि तो अवतरण के अवतरण लूट लेते हैं।'' पंडित रामनरेश त्रिपाठी के तुलसीदास पर लिखे गए एक वृहद् लेख का यहाँ पर मुझे स्मरण हो रहा है, जिसमें **वाल्मीकि रामायण** ही क्यों, **अध्यात्म-रामायण** और **गालव संहिता** और जाने किन-किन स्रोतों का ज़िक्र है। लगभग यथावत् अनूदित श्लोकों की छटा भी उन्होंने उक्त लेख में खूब दिखाई है। पर इस या इस जैसी घटनाओं को हम भारतीय साहित्य को अनुवाद साहित्य की देन कह सकते हैं क्या? निश्चय ही नहीं। प्रश्न उठ सकता है कि समूचे भक्तिकाल के दौरान 'भाषा' ने जो केन्द्रीय भूमिका निभाई,-समूचे देश के सांस्कृतिक 'क्लीयरिंग हाउस' की, वह कैसे सम्भव हुई होगी? मीरा के ही पद, उदाहरण के लिए ब्रजभाषा के अतिरिक्त राजस्थानी और गुजराती में भी उपलब्ध क्यों हैं? कैसे हैं? विद्यापति पर बँगलावाले उतना ही अधिकार क्यों जताते हैं, जितना हिन्दीवाले? इस सार्वदेशिक आंदोलन में प्रकट या प्रच्छन्न अनुवाद की प्रक्रिया का योग रहा ही होगा। किन्तु अलग से अनुवाद-साहित्य जिसे कहा जा सके, वह कहाँ है? क्या इसे यूँ रखा जा सकता है कि जहाँ लेखक की व्यक्तिगत मौलिकता को सुपरिभाषित करने और उस पर जोर देने की प्रवृत्ति जड़ नहीं पकड़ती, वहाँ अनुवाद-कर्म को भी अलग से सुपरिभाषित और व्यवस्थित रूप देकर पहचानने की स्थिति नहीं बनती?

मुगल-काल में भी प्रभाव के रूप में फारसी भाषा और साहित्य की उपस्थिति को दर्ज़ किया जा सकता है, किन्तु प्रस्तुत विषय के सन्दर्भ में वह कौन-सा अनुवाद-साहित्य है, जिसका तत्कालीन भारतीय भाषाओं के साहित्य पर प्रभाव पड़ा होगा, इस बारे में खोज करने चलें तो क्या पता चलता है? यह तो लोक-विश्रुत तथ्य है कि फैजी ने, फरिश्ता ने भी **महाभारत** का फारसी में अनुवाद किया, किन्तु वे कौन-से पर्शियन या अरबी या तुर्की क्लासिक्स हैं जिनका किसी भारतीय भाषा में अनुवाद हुआ हो? पुर्तगाली पादरी से बाइबिल की छपी पुस्तक भेंट में

पाकर भी अकबर या उसके दरबारियों के मन में मुद्रण-कला सीखने और उसका इस्तेमाल भारतीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार के लिए (और इस तरह अनुवाद-साहित्य को पनपाने के लिए) करने की नहीं सूझी, इससे क्या ज़ाहिर होता है?

इस तरह देखने पर यही दिखता है कि आधुनिक काल से पूर्व भारतीय साहित्य में अनुवादयानी विशेषीकृत अर्थ में अनुवाद-साहित्यकी कोई ख़ास भूमिका नहीं रही। यह आवश्यकता उदित हुई यूरोप के साथ हमारे सम्पर्क और तज्जनित हमारी पारम्परिक चेतना में उपजी उथल-पुथल के फलस्वरूप। और वह भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उससे जुड़े मिशनरी अभियान के यहाँ जड़ें जमा चुकने के बाद। बल्कि, अनुवाद साहित्य को बाकायदा मुद्रित और प्रचलित करने का श्रेय तो मिशनरी एंटरप्राइज़ और मिशनरी प्रेस को ही देना पड़ेगा। धर्म-प्रचार की गरज से अनुवाद करने के लिए भारतीय भाषाओं को बाकायदा सीखने-सिखाने और उनके प्रथम व्याकरण तैयार करने का श्रेय भी संभवतः उन्हीं को जाएगा।

किन्तु यहाँ भी इस कालखंड में भी काफी दूर तक हम देखते हैं कि अनुवाद-साहित्य को अनुवाद-साहित्य के रूप में स्वयं की पहचान बनाने और उसका महत्त्व स्थापित करने में काफी देर लगी है और यह तब, जब स्वयं मौलिक रचना-कर्म उत्प्रेरित करने में अनुवादों का क्या योग हो सकता है, यह समझ में आ चुका था। अकेले भारतेन्दु के कृतित्व को आँख गड़ाकर देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाएगी। इस कृतित्व में अनुवाद का पलड़ा मौलिक सृजन से कहीं अधिक भारी लगता है। नाटक बंगला से, उपन्यास मराठी से अनूदित किए मिलेंगे, किन्तु वे अनुवाद जैसे नहीं लगते उनमें बाक़ायदा अनुवादक की स्थिति बहुत क्षीण है। उदाहरण के लिए, बरसों पहले जब मैंने भारतेन्दु का **दुर्लभ बंधु** पहली बार पढ़ा तो बीसेक पृष्ठों तक तो मुझे पता ही नहीं चल पाया कि यह शेक्सपीयर के **मर्चेण्ट ऑव वेनिस** का अनुवाद है। यहाँ तक कि **भारतेन्दु ग्रंथावली** में उसका उल्लेख भी संभवतः अनूदित नाटक की तरह, अनुवाद-साहित्य की तरह नहीं, हुआ है। यह भ्रम जाने-अनजाने बना रहता है कि वह भारतेन्दु की ही मौलिक रचना है। इसके अगले दौर, द्विवेदी युग में अंग्रेजी साहित्य के नियो-क्लासिकल युग की रचनाओं का अनुवाद करने में दिलचस्पी दिखाई देती है। श्रीधर पाठक कृत गोल्डस्मिथ के **दि ट्रैवलर** का अनुवाद और पं. रामचंद्र शुक्ल द्वारा किए गए दो-दो अनुवाद इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। खड़ी बोली हिन्दी की अभिव्यंजना-सामर्थ्य में वृद्धि के समानान्तर ही अब अनुवाद-साहित्य में भी वृद्धि होने लगती है। सबसे अधिक अनुवाद कथा-साहित्य के क्षेत्र में होते हैं। देश में भीतर बंगला और मराठी रचनाओं के और देश के बाहर यूरोपीय विशेषकर अंग्रेज़ी और रूसी उपन्यासों के। मुझे याद नहीं पड़ता कि अपने लड़कपन के दिनों में कोई अंग्रेज़ी या फ्रेंच उपन्यास हिन्दी अनुवाद में मेरे पढ़ने में आया हो। किन्तु टाल्सटाय का **रेज़रेक्शन** अपने हिन्दी अनुवाद **पुनर्जन्म** के नाम से वह पहला उपन्यास था जो मैंने पढ़ा था। सन् 1946-47 के आस-पास। संभवतः उन्हीं दिनों विश्वविख्यात **डॉन कुआते** का भी संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर **किंज्योति** नाम से छपा मेरे पढ़ने में आया था। उसी के आस-पास बंकिम का **विषवृक्ष,** रवीन्द्रनाथ ठाकुर का **गोरा** तथा शरत चंद्र के भी कुछ उपन्यास पढ़े होने का मुझे स्मरण है। ये अनुवाद कितने सहज़ रहे होंगे, ये इसी से ज़ाहिर हो जाता है कि बहुत दिनों तक मैं इन सबको हिन्दी लेखक ही समझता रहा!

अनुवाद-साहित्य की गुणवत्ता के लिहाज़ से नई कविता युग विशेष उल्लेखनीय जान पड़ता है। सबसे उत्कृष्ट अनुवाद कथा-साहित्य के ही नहीं, काव्य के भी इसी दौरान हुए, जिनमें धर्मवीर भारती कृत **देशान्तर,** निर्मल वर्मा द्वारा किए चैक कहानियों के, कुप्रिन की कहानियों के तथा अज्ञेयकृत यूगोस्लाविया की कथाकृति **अनीका का ज़माना** के तथा लागरक्वीस्त के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। बाद में रघुवीर सहाय, रांगेय राघव, बच्चन, बालकृष्ण राव आदि कइयों ने इस दिशा में योगदान दिया। इन अनुवादों में प्रोफेशनल दक्षता की छाप है, यहाँ अनुवादक मूल रचनाकार की संवेदना के धरातल पर ही काम करता प्रतीत होता है। ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दी में जो भी उत्कृष्ट अनुवाद यूरोपीय कृतियों के हुए हैं वे सभी निरपवाद रूप से कृती साहित्यकारों द्वारा किए गए हैं। विशुद्ध अनुवादक के रूप में जिनका नाम है, ऐसे लोग संख्या में बहुत कम हैं और उनका काम हमारी संवेदना पर वह छाप नहीं छोड़ पाता जो रचनाकार अनुवादकों का नाम छोड़ता है। यह स्थिति चिन्तनीय है और इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अभी भी हमारे देश में अनुवाद-साहित्य को साहित्य का दर्ज़ा सहज स्वाभाविक रूप से मिला नहीं है। 'हैकवर्क' की तरह बिना अनुवादक की पात्रता का विचार किए अनुवाद कराए जाते हैं। ऐसे कई प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम गिनाए जा सकते हैं जिनके हिन्दी में अनुवाद तो हुए हैं, मगर उन्हें साहित्यिक गुणवत्ता की दृष्टि से उल्लेखनीय नहीं माना जा सकता। जिस तरह टाल्सटाय अथवा काफ्का के अनुवादक, अथवा प्राचीन क्लासिक्स के क्षेत्र में भी **डिवाइन कामेडी** अथवा होमरी महाकाव्यों के अनुवादक अपने आप में अनुवादकीय क्षमता के मानक उदाहरणों की तरह गिनाए जाते हैं, उस तरह अपने यहाँ अनुवाद की स्वयं पर्याप्त श्रेष्ठता की यानी प्रोफेशनल स्टैण्डर्ड की पहचान बन सकी है या कोई ऐसी कसौटी प्रभावशील हो सकी है, मुझे इसमें पूरा-पूरा संदेह है। फणीश्वरनाथ रेणु, निराला द्वारा किए गए **श्री रामकृष्ण वचनामृत** के अनुवाद को पढ़कर भावविभोर हो उठते हैं। उन्हें लगता है मानों यह सब हिन्दी में ही बोला और लिखा गया था, बंगला में नहीं। ऐसी प्रामाणिकता का अहसास कितनी अनूदित कृतियाँ करा पाती हैं? आख़िर इसके लिए कोई भी साहित्य कितने निराला, अज्ञेय और निर्मल वर्मा जुटा सकता है? अन्ततः कृति-साहित्य का अनुवाद भी विशिष्ट संवेदनशीलता और विशेषज्ञता का ही क्षेत्र है। किन्तु यदि हिन्दी को प्रमाणभूत माना जा सके तो कहना होगा कि हमारे यहाँ इस क्षेत्र में प्रोफेशनल मानदंडों का स्थापित हो जाना अभी सहज संभाव्य नहीं लगता है। लगे भी कैसे, जब तक अनुवाद कर्म को ही प्रोफेशन की तरह गम्भीरतापूर्वक लिए जाने की नौबत नहीं आती। दूर क्यों जाएँ, क्या संस्कृत क्लासिक्स के ही उत्कृष्ट अनुवाद हिन्दी में सुलभ हैं? नहीं हैं तो क्यों नहीं हैं? एकाध उदाहरणजैसे नागार्जुन का मेघदूत आप गिना दे सकते हैं। पर, उससे क्या होता है!

एक बात और भी है। हमारे बौद्धिक आलस्य के चलते हम जहाँ अनुवाद से काम नहीं चला सकते, मौलिक विचार की ज़रूरत है, वहाँ तो अनुवाद करते हैं और जहाँ अनुवाद के खरेपन की चुनौती उपस्थित होती है, वहाँ मनमानापन बरतते हैं। इससे दूसरों पर हम यही छाप छोड़ते हैं कि हिन्दी में मौलिक चिन्तन हो ही नहीं सकता : वह तो अनुवाद की यानी अनुवादजीवी भाषा है। ज्ञान के साहित्य के क्षेत्र में तो स्थिति और भी सोचनीय है। रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में

तो किसी ने यहाँ तक कहा है कि घटिया अनुवाद भी महान् कृति को नष्ट नहीं कर सकता। इस बात में थोड़ा दम है, यह हम शेक्सपीयर तथा कुछ रूसी साहित्य के चलताऊ हिन्दी अनुवादों को पढ़ते हुए साफ़ महसूस कर सकते हैं। (हालाँकि यह शिथिल अनुवाद के बचाव का तर्क नहीं है) किन्तु ज्ञान के साहित्य के क्षेत्र में तो घटियापन, अक्षमता या लापरवाही सौ फीसदी घातक सिद्ध होती है। आपको दार्शनिक विचार में कोई दिलचस्पी नहीं है तो अंग्रेज़ी या हिन्दी या संस्कृत के औसत या औसत से बेहतर ज्ञान के बूते आप शंकराचार्य, प्लेटो या हेगल या शोपनहॉर का अनुवाद करने के अधिकारी कदापि नहीं हो जाते। यहाँ तक कि, उनका भी अनुवाद करने के अधिकारी नहीं हो सकते जो साहित्य और दर्शन के उभयनिष्ठ सीमान्तों पर काम करने वाले विचारक हैकीर्केगार्ड या सार्त्र की तरह। मगर यह अनधिकार चेष्टा हमारे यहाँ धड़ल्ले से की जाती रही है और उसके दुष्परिणाम प्रत्यक्ष हैं।

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में ही कहा, यह विषय सामने आते ही मुझे लगा था कि यदि इसकी जगह ''यूरोपीय साहित्य को अनुवाद-साहित्य की देन'' होता तो मुझे आसानी होती, बल्कि अगर अंग्रेज़ी साहित्य को अनुवाद-साहित्य की देन होता तो मुझ सरीखे अंग्रेज़ी के प्राध्यापक और शोधकर्त्ता के लिए कुछ और ज्यादा आसानी होती, क्योंकि वह देन उजागर है और साहित्य-इतिहास के पन्नों पर ख़ासी बड़ी जगह घेरती है। मसलन, अंग्रेजी साहित्य का कम-से-कम, नाटकों का, स्वर्णयुग जिसे कहा जाता है, उस एलिज़ाबेथन युग को ही देखें तो इतालवी और फ्रेंच क्लासिकों के अनुवादों की वहाँ बाढ़-सी आई दिखती है। और यही नहीं, यह भी साफ़ नज़र आता है कि यदि ये अनुवाद न हुए होते, यदि इनके ज़रिए योरोपीय पुनर्जागरण से उन्मुक्त मानवीय चेतना की हलचलें इस तरह ब्रिटिश संवेदना को झँझोड़ कर नहीं जगातीं तो अंग्रेज़ी साहित्य में उस समय यकायक जो ज़बर्दस्त खमीर उठा दिखता है, वह कदाचित न उठ पाता। अकेले फ्लोरियो कृत मॉन्तेन के निबन्धों के अनुवाद, प्लूटार्क और सेनेका समेत अनेक ग्रीक और लेटिन क्लासिक्स के अनुवाद तथा बोकैशियो आदि के अनुवादों ने एलिज़ाबेथन साहित्यिक भाव-बोध के निर्माण और विकास में कितनी ज़बर्दस्त उत्प्रेरक की भूमिका निभाई, यह किसी से नहीं छिपा है। इस तरह देखने पर तो योरोप का समूचा पुनर्जागरण ही इस अनुवाद-साहित्य से उत्प्रेरित हुआ कहा जाएगा। इसी तरह उसके तीन सौ साल के बाद जो दूसरा पुनर्जागरण अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के संधिस्थल पर योरोपीय चेतना में हुआ दिखता है, जिसे रेमण्ड श्वाब सरीखे विद्वानों ने 'ओरिएण्टल रेनेसाँ' के नाम से अभिहित किया है, उसमें भी संस्कृत और फारसी से किए गए अनुवाद-साहित्य की कितनी ज़बर्दस्त भूमिका है, देखने की बात है। रोमैण्टिक कवियों को उससे प्रेरणा मिलीमसलन विलियम ब्लैक को अपने बालसखा चार्ल्स विलिकन्स द्वारा किए गए **गीता** के पद्यानुवाद से, या अन्य रोमैण्टिकों को एच.एच. विल्सन कृत **मेघदूत** के पद्यानुवाद सेवह साफ महसूस की जा सकती है। हमारे भक्तिकाल को भी हम एक तरह का पुनर्जागरण कह सकते हैं, किन्तु उसे उत्प्रेरित करने में अनुवाद-साहित्य की जो भूमिका रही होगी, वह उस तरह प्रकट नहीं है। साहित्य की अपेक्षा दर्शन के क्षेत्र में हुई नई उथल-पुथल उसमें अधिक स्पष्ट रूप से निर्णायक दिखती है। तो भी, जैसा ऊपर संकेत किया गया, एक प्रच्छन्न प्रक्रिया तो सृजनात्मक अनुवाद या अनुकीर्तन की उस समूचे आन्दोलन की पृष्ठभूमि में परिलक्षित की ही

जा सकती है। फिर उन्नीसवीं शती के पुनर्जागरण को देखते हैं तो आधुनिक युग की दहलीज़ पर अवश्य ही पहली बार सचेतन स्तर पर अनुवाद-साहित्य के निर्माण और प्रचार-प्रसार की उपयोगिता प्रासंगिकता समझ में आईऐसा प्रतीत होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे पथ-निर्माता साहित्यकार जब अश्वघोष के **बुद्धचरित** को सीधे संस्कृत से नहीं, बल्कि एडविन आर्नोल्ड की मार्फत हिन्दी में लाने की ज़रूरत महसूस करते हैं, अथवा **रिडल्स ऑव दि यूनिवर्स** के अनुवाद में उतनी में ऊर्जा खर्च करते हैं, तो पहली बार यह दिखता है कि हिन्दी में यानी भारतीय भाषाओं की जो लघुतम समापवर्त्य सरीखी, मध्ययुगीन 'लिंग्वा फ्रैंका' की सीधी उत्तराधिकारिणी हिन्दी के ज़रिए, भारतीय भाषाओं में अनुवाद-साहित्य की एक स्वायत्त और प्रभावशाली भूमिका के बनने की प्रक्रिया की शुरुआत आखिरकार हो गई है।

अन्त में, एक रोचक विरोधाभास की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हुए अपने इस संक्षिप्त आलेख को समेटना चाहूँगा। हम लक्ष्य कर सकते हैं कि एक लम्बे समय तक भारतीय चेतना के संवाहक भारतीय-साहित्य के निर्माण में अनुवाद-साहित्य की भूमिका नगण्य रही। कम-से-कम वैसी तो बिलकुल भी नहीं रही, जैसी योरोपीय साहित्य और भाव-बोध के निर्माण और विकास में प्रकट रूप से रही है। इस कमी के बावजूद भारतीय साहित्य के (कम-से-कम कृति साहित्य के) स्वतंत्र-स्वतः प्रेरित विकास में कोई रुकावट आई हो, ऐसा नहीं लगता। हाँ, जहाँ तक ज्ञान के साहित्य का सवाल है, इतना स्पष्ट रूप से लगता है कि यदि भारतीयों में तत्कालीन विश्व की अन्य सभ्यताओं की सेक्युलर उपलब्धियोंविज्ञान आदि के प्रति जीवन्त स्पृहा और उत्सुकता होती और उसने बारूद, छापे इत्यादि के आविष्कारक चीन तथा विज्ञान-समृद्ध यूरोप के तद्विषयक साहित्य को अनुवाद के ज़रिए स्वायत्त किया होता तो यह निश्चय ही हमारे हक में होता। यह भी प्रतीत होता है कि अपनी संस्कृति की चौहद्दी के बाहर दुनिया में क्या कुछ घटित हो रहा है, इसके प्रति चौकन्नापन स्वयं उस संस्कृति के सृजनात्मक नैरन्तर्य के लिए आवश्यक है और अनुवाद-साहित्य की इसमें सुस्पष्ट भूमिका बनती है। यूरोप की ऐतिहासिक सभ्यता के द्रुतगति से विकास का एक कारण यह भी निस्संदेह रहा कि अन्य के प्रति, अन्य सभ्यताओं के प्रति उसकी जिज्ञासा और दिलचस्पी शुरू से ही बेहद सक्रिय और 'एप्रोप्रियेटिव' रही। उसके लिए 'अन्य' एक ऐसे 'ऑब्जेक्ट' के रूप में प्रस्तुत होता रहा, जिसका अवधारणात्मक वशीकरण करके वह उस पर अपना अधिकार जमा सके या उस पर अपना नियंत्रण स्थापित कर सके। यह दृष्टि वास्तव में आरम्भ से सक्रिय रही, तभी उसका दार्शनिक सिद्धान्त भी हेगल के यहाँ औचित्य-प्रतिपादन के तर्क की तरह स्थापित हुआ। अपने आप में वह सही है, अथवा गलत, कल्याणकारी है अथवा अनर्थकारी, इस बहस का यहाँ उस तरह कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु इतना तो हमारी सहजबुद्धि ही बता देती है कि इसका विलोम भी यदि एक आत्मतुष्ट औदासीन्य में या अन्यता के रचना-विमुख अस्वीकार में परिणत हो जाता है तो वह भी अपने आपमें कोई श्रेयस्कर बात नहीं है। उसके अपने दुष्परिणाम भी अपेक्षाकृत निर्दोष समाजों और सभ्यताओं को भुगतने ही पड़ते हैं, जैसे कि भारत ने भुगते ही हैं। आधुनिक युग में अनुवाद-साहित्य ने यदि अपनी निर्विवाद उपयोगिता प्रमाणित की है तो वह सच्चाई के इसी तकाज़े के तहत और मानव-एकता के स्वप्न को साकार करने की दिशा में एक अनिवार्य

साधन की हैसियत से ही। एक ज़माना वह भी था जब डॉ. जॉन्सन सरीखे लेखक-कवि भी डंके की चोट पर यह ऐलान कर सकते थे कि ''कविता का अनुवाद सम्भव ही नहीं है, और यह बहुत अच्छी बात है कि सम्भव नहीं है; क्योंकि तब पराई भाषा सीखने की ज़हमत कौन उठाएगा?'' आज कोई देश ऐसा नहीं, जिसमें उत्कृष्ट काव्य के उत्कृष्ट अनुवाद के ज़रिए हम विश्व-साहित्य की उपलब्धियों के रस-ग्रहण के सुख से वंचित रह सकें। स्वयं अनुवाद-कर्म प्रोफेशनल पर्फेक्शन की जिस ऊँचाई को छू रहा है, वह पूर्व युगों के लिए अकल्पनीय ही थी। यह पर्याप्त कारण है कि भारतीय साहित्य को स्वयं अपनी श्रीवृद्धि के लिए ही नहीं, अपने को विश्व-स्तर पर प्रतिष्ठित करने के लिए भी अपने अनुवाद-साहित्य को गुणवत्ता और विपुलता दोनों ही स्तरों पर समृद्ध करने की सख़्त ज़रूरत है।

तोएक ओर वह दृश्य, कि शताब्दियों-सहस्राब्दियों तक भारतीय साहित्य किसी अभारतीय भाषा को सीखकर अनुवाद के ज़रिए उसकी साहित्यिक या रचनात्मक, ज्ञानात्मक उपलब्धियों को स्वायत्त करने की कोई प्रेरणा या ज़रूरत अनुभव करता नहीं दिखता और फिर भी उसकी जीवन्तता-सृजनशीलता अक्षुण्ण रही आती है, और दूसरी ओर कहाँ यह आज का यह दृश्य, जिसमें लगभग 22 भारतीय भाषाओं में रचे जा रहे साहित्य की सरासर और बाकायदा अनदेखी करते हुए सलमान रश्दी और खुशवंत सिंह सरीखे अंतर्राष्ट्रीय (?) लेखकों का यह दावा कि समकालीन भारतीय साहित्य में सर्वाधिक अग्रगामी और गुणवत्ता के लिहाज़ से भी सर्वाधिक समृद्ध लेखन वह है जो अंग्रेज़ी में किया जा रहा है। बात इस निरर्थक बहस में उलझने की नहीं, यह देखने की है कि कोई भारतीय लेखक (अंततः आंग्ला-भारतीय लेखन भी भारतीय ही है) इतने आत्मविश्वास के साथ इतनी अनर्गल स्थापना आखिर कैसे कर ले जाता है? जिस ज्वलन्त विरोधाभास की बात हमने अभी की थी, वह यही है और इस पर हमें गौर करना चाहिए कि वह कैसे और कहाँ से और क्यों उपज सका? आखिर हमारे सांस्कृतिक और सृजनात्मक आत्मविश्वास का स्रोत क्या है? क्या अंग्रेज़ी के इतने समर्थ उपयोग और दोहन के बावजूद हमारा उसके साथ सम्बन्ध सहज है? यदि नहीं, तो क्यों नहीं? क्यों अंग्रेज़ी से ही सारे अनुवाद होते हैं? और उसमें भी क्वालिटी कंट्रोल नदारद दिखता है? क्यों हिन्दी के माध्यम से हुए विरल, किन्तु अत्यंत महत्त्वपूर्ण लेखन को अंग्रेज़ी में अनूदित करने की पहल करने की बात किसी को नहीं सूझती? जिस विरोधाभास का मैंने ज़िक्र किया, वह इन सारे और अन्य भी कई सारे प्रश्नों को उकसाने और उनका प्रत्युत्तर देने के लिए हमें उकसाए, यही उसकी सार्थकता है!

एम-4, निराला नगर
भदभदा रोड़, भोपाल (म.प्र.)-462003
मो. 9424440574

हिन्दी और पूर्वोत्तर भारत का भाषायी संकट

अमरेन्द्र त्रिपाठी

देश के मुख्य भाग से एक पतली भू-पट्टिका, जिसे 'सिलीगुड़ी कॉरीडोर' कहा जाता है, से जुड़ने वाला पूर्वोत्तर भारत सदियों से और सदैव से रोमांच का विषय रहा है। भारत की केंद्रीय सत्ता से इसका नाता कभी भी मधुर नहीं रहा है, लेकिन इसकी सामाजिक-सांस्कृतिक जमीन भारतीयता की मिट्टी से ही निर्मित हुई है। मात्र 21 से 40 कि.मी. तक की चौड़ाई वाले 'चिकेन नेक' के द्वारा भारत के मुख्य भू-भाग से जुड़े इस इलाके को काटकर भारत से अलग कर लेने की आकांक्षा बाहरी और भीतरी कई शक्तियों की हमेशा से रही है लेकिन वहाँ की जनता के राष्ट्र-प्रेम ने उनकी कोशिशों पर सदैव पानी फेरा है। केंद्रीय सत्ता की निरंतर उपेक्षा के कारण इस इलाके की जनता के भीतर असन्तोष की भावना आज भी विद्यमान है लेकिन इसका स्वरूप वैसा ही है जैसा भारत के किसी भी अन्य इलाके के लोगों का है। यह बात दूसरी है कि हम अपने बेगानेपन के कारण उसे 'राष्ट्र-द्रोह' मान लेते हैं।

भारत के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की ब्रह्मपुत्र घाटी का सांस्कृतिक व राजनीतिक इतिहास लगभग उतना ही पुराना है जितना कि पश्चिमी भारत की सिंधु घाटी, मध्य भारत की गंगा-नर्मदा घाटी तथा दक्षिण भारत की कृष्णा-कावेरी घाटी का है, और भारत के साथ इसका संबंध भी उतना ही पुराना है। इस क्षेत्र का प्राचीन इतिहास रामायण एवं महाभारत काल से जुड़ा है। कहा जाता है कि परशुराम ने अपनी माता की हत्या के बाद अपना फरसा अरुणाचल के लोहित जिले में बहने वाली लोहित नदी में धोया था। आज भी उस स्थान पर परशुराम कुंड नामक एक जलाशय है। महाभारत व रामायण में इस क्षेत्र के दो नाम मिलते हैं- प्राग्ज्योतिषपुर और कामरूप। प्राग्ज्योतिषपुर नरेश नरकासुर की अनेक कहानियाँ पुराणों में मिलती हैं। इस असुर नरेश को कृष्ण ने युद्ध में मारा था और उसकी कैद से 16100 राज कन्याओं को मुक्त कराया था। नरकासुर के बेटे भगदत्त ने महाभारत युद्ध में कौरवों के पक्ष में युद्ध किया था। पूर्वोत्तर भारत का पहला ज्ञात ऐतिहासिक साम्राज्य 'कामरूप' है। यह साम्राज्य ईसवी सन् 350 से लेकर 1140 तक करीब 800 वर्षों तक कायम रहा, जिसके दौरान तीन राजवंशों ने शासन किया। कामरूप का प्रथम पुरातात्त्विक साक्ष्य चौथी शताब्दी के गुप्त नरेश समुद्रगुप्त के इलाहाबाद प्रस्तर स्तंभ लेख में मिलता है। 7वीं शताब्दी में भारत आए चीनी यात्री ह्वेन त्सांग

के समय कामरूप पर वर्मन वंश के महान शासक भास्करवर्मन का शासन था। 12वीं शताब्दी के बाद इस साम्राज्य का तो अन्त हो गया, लेकिन कामरूप राज्य बना रहा। 15वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में इस राज्य पर हमला करने वाले अलाउद्दीन हुसैन शाह के सिक्के पर 'कामरू' या 'कामरूद' नाम अंकित है। आज भी इस नाम का जिला है।

उत्तर-पूर्व के अंतर्गत आठ राज्य आते हैं- असम, नागालैंड, मिजोरम, त्रिपुरा, मेघालय, मणिपुर, अरुणाचल तथा सिक्किम। ब्रिटिश काल में यह पूरा क्षेत्र 'बंगाल प्रान्त' का अंग रहा। असम राज्य 1874 में अस्तित्व में आया। जब देश स्वतंत्र हुआ, तो ब्रिटिश इंडिया वाले असम में मणिपुर व त्रिपुरा की रियासतें शामिल कर ली गईं, लेकिन बाद में इन दोनों को 1956 में अलग करना पड़ा। 1956 से 1972 तक ये केन्द्रशासित प्रदेश थे, उसके बाद इन्हें राज्य का दर्जा मिला। स्थानीय आकांक्षाओं की संतुष्टि, जनजातीय अस्मिता की पुष्टि और सामाजिक-सांस्कृतिक-भाषायी पहचान की परिपुष्टि के क्रम में असम का और चार बार विभाजन कर 1963 में नागालैंड, 1972 में मेघालय, 1975 में अरुणाचल प्रदेश और 1987 में मिजोरम नाम के नए राज्य अस्तित्व में आए। 2009 की जनगणना के अनुसार इस क्षेत्र में करीब तीन करोड़ नब्बे लाख लोग निवास करते हैं जो भारत की कुल जनसंख्या के मात्र 3.8 प्रतिशत हैं। इसमें से करीब 68 प्रतिशत जनसंख्या अकेले असम में रहती है। पूर्वोत्तर भारत देश के कुल क्षेत्रफल का महज नौ प्रतिशत है। यहाँ 70 नृजातीय समूह निवास करते हैं और लगभग चार सौ भाषाएँ बोली जाती हैं। पूरे क्षेत्र में अनुसूचित जनजातियों की संख्या 160 है और यहाँ की 84 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर है और गाँवों में रहती है। इस क्षेत्र में शिक्षा की दर (68.5 प्रतिशत) देश के बाकी हिस्सों (61.5 प्रतिशत) से कहीं आगे है। इसमें भी आश्चर्यजनक रूप से जनजातियों की साक्षरता-दर 75 प्रतिशत से भी ज्यादा है।

पूर्वोत्तर भारत अपनी भौगोलिक संरचना के कारण बेहद अहम इलाका है। इसकी 90 प्रतिशत सीमा (4500 कि.मी.) अन्य देशों की सीमाओं से मिलती है। उत्तर में चीन (दक्षिणी तिब्बत) है, तो पश्चिम में नेपाल-भूटान, पूर्व में म्यांमार तो दक्षिण-पश्चिम में बांग्लादेश। यह दक्षिण-पूर्व एशिया के केंद्र में है। पूर्वोत्तर की हलचलों का भारत की विदेश नीति पर व्यापक असर पड़ता है। भारत के कुछ बुद्धिजीवी अलगाववादी संगठनों द्वारा स्वतंत्रता की माँग का 'जनवादी' आधार पर समर्थन करते हैं, ये समझे बिना कि ये माँगें कितनी जनवादी हैं और कितनी जन-विरोधी। वे न तो इस इलाके की जमीनी हकीकत से परिचित हैं और न ही जमीन से। अलग-अलग पर्वतीय उपत्यकाओं में बसा-बिखरा पूर्वोत्तर भारत किसी एक नृजातीय समूह का हिस्सा नहीं। इनका न इतिहास एक है, न ही वर्तमान। मंगोलीया, इजरायल, तिब्बत, बर्मा और न जाने अन्य कितने अलग-अलग क्षेत्रों से अलग-अलग समयों में आयी जनजातियाँ भाषा-भूगोल-भाव सब स्तरों पर बड़े पैमाने पर न केवल भिन्न हैं बल्कि विरोधी भी हैं। मिजो, नागा, निशी, खासी और तांखुल नामक जनजातियों में समानता का एक बड़ा आधार यह है कि

ये सब भारत के पूर्वोत्तर में रहती हैं और उनका चेहरा-मोहरा भारत के अन्य इलाकों से थोड़ा हट के है। अंग्रेजी हुकूमत द्वारा राजनैतिक-सामाजिक-भौगोलिक स्तरों पर शेष भारत से इस क्षेत्र का साजिशन किया गया अलगाव आजाद भारत के शासकों की गलत नीतियों के कारण अब संवेदना के स्तर पर संक्रमित हो गया है। पूर्वोत्तर भारत का भारत से अलगाव दुखद ही नहीं बल्कि भयानक होगा। ऐसी स्थिति में हमारा सबसे बड़ा प्रतिस्पर्धी बिहार के किशनगंज जिले के पास आ जाएगा, हमारे बेहद 'करीब'।

भारत एक बहुभाषी देश है। सन् 2010-11 की जनगणना की एक रिपोर्ट के अनुसार यहाँ मातृभाषाओं की संख्या 1500 से भी अधिक है जबकि दस हजार से अधिक लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं की संख्या 122 है। इसमें से बाइस भाषाओं को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया गया है। इन 22 परिगणित भाषाओं में से पन्द्रह भाषाएँ भारतीय आर्य भाषा परिवार की, चार द्रविड परिवार की, एक आग्नेय परिवार(संथाली) की और दो तिब्बती-बर्मी परिवार(बोडो और मणिपुरी) की भाषाएँ हैं। इस अनुसूची में पूर्वोत्तर की महज चार भाषाएँ असमिया, बोडो, मणिपुरी और नेपाली शामिल हैं। इसमें भी नेपाली का पूर्वोत्तर भारत से सीधा संबंध नहीं है।

पूर्वोत्तर भारत में सौ से अधिक भाषाएँ बोली जाती हैं। असमिया, मणिपुरी, नेपाली, नेवारी, राइ, सादरी, हाजोङ, मँगर, सुनुवार और ताइ को छोड़कर पूर्वोत्तर भारत में बोली जाने वाली लगभग सभी भाषाएँ जनजातीय भाषाएँ हैं। भारत की भाषाओं को मोटे तौर पर चार परिवारों में विभाजित किया जाता है जिसमें द्रविड परिवार को छोड़कर शेष सभी परिवारों की भाषाएँ पूर्वोत्तर में पायी जाती हैं। असमिया, विष्णुप्रिया, मणिपुरी और नेपाली भारतीय आर्यभाषा परिवार की भाषाएँ हैं। पूर्वोत्तर भारत की खासी भाषा आस्ट्रो-एशियाटिक या आग्नेय परिवार की ही एक शाखा मानखमेर की भाषा मानी जाती है। पूर्वोत्तर भारत की अधिकांश जनजातीय भाषाएँ तिब्बती-बर्मी परिवार की भाषाएँ हैं। इस परिवार की भाषाओं का अस्तित्व संस्कृत से भी पुराना माना जाता है। संस्कृत साहित्य में इस परिवार की भाषाओं का उल्लेख 'किरात' के रूप में मिलता है। इस परिवार की भाषाओं के प्रयोक्ता केवल 0. 97 प्रतिशत हैं, अर्थात भारत की जनसंख्या के एक प्रतिशत से भी कम व्यक्ति इस परिवार की भाषाओं के प्रयोक्ता हैं।

जनसंख्या की दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत की दस सबसे बड़ी भाषाएँ हैं- असमिया, मणिपुरी, बोडो, नेपाली, गारो, खासी, मिजो, त्रिपुरी, मिकिर और मिशिङ। इन दस भाषाओं को छोड़कर पूर्वोत्तर भारत में बोली जाने वाली किसी भी भाषा के बोलने वालों की संख्या एक लाख से अधिक नहीं है। 2001 की जनगणना में दस हजार से अधिक आबादी वाली भाषाओं को गैर-अनुसूची में शामिल किया गया और उसमें सौ भाषाओं को शामिल किया गया। इस गैर-अनुसूची की सौ भाषाओं में भारतीय भूगोल के एक छोटे से हिस्से में फैले पूर्वोत्तर भारत

की 61 भाषाओं को जगह मिली। पचास से अधिक भाषाओं को इस सूची में भी जगह नहीं मिली। बात यहीं खत्म नहीं होती। यूनेस्को की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में लगभग 198 भाषाएँ संकटग्रस्त हैं, दुनिया के किसी भी देश से ज्यादा और इस सूची में भी सर्वाधिक भाषाएँ पूर्वोत्तर भारत की ही हैं- सौ से भी ज्यादा।

पूर्वोत्तर भारत का यह वृहद भाषिक परिदृश्य कई सवालों, समस्यायों और संकटों से हमारा मुखामुखम कराता है। इस प्रदेश की सबसे बड़ी समस्या भाषिक विस्थापन की है। पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय इलाकों में बड़ी संख्या में लोग अपनी भाषाओं को छोड़ किसी अन्य बड़ी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना रहे हैं। अरुणाचल प्रदेश और नागालैण्ड इसका सबसे बड़ा नमूना है। अरुणाचल प्रदेश पिछले कुछ वर्षों में लगभग हिन्दीभाषी राज्य में तब्दील हो गया है। यहाँ हिन्दी न केवल संपर्क भाषा है बल्कि अब साहित्यिक अभिव्यक्ति का भी माध्यम हो गयी है। नागालैण्ड की तमाम भाषाओं को दबाकर आजादी के बहुत पहले ही नगामीज नामक एक 'पिजन' भाषा ने उस समाज में अपनी जगह बना ली थी। अब ईसाइयत के प्रभाव में अंग्रेजी अपना पाँव फैला रही है। सिक्किम में नेपाली बहुलता के कारण नेपाली में वहाँ की अधिकांश आबादी शिफ़्ट हो रही है। मिजोरम और मेघालय की भी हालत कमोबेश नागालैण्ड सी ही है जहाँ ईसाइयत के प्रभाव में युवा वर्ग अंग्रेजी की ओर खिंचा चला जा रहा है। इस कारण छोटी-छोटी भाषाएँ मृत्यु की कगार पर पहुँच गयी हैं। पूर्वोत्तर के अधिकांश जनजातीय इलाकों की युवा आबादी अपनी मातृभाषाओं को बोलना भी नहीं जानती। यह स्थिति हिन्दी, अंग्रेजी और असमिया जैसी बड़ी भाषाओं के फैलाव में तो बड़ी भूमिका निभा रही है लेकिन उस समाज के लिए बहुत बुरी है।

प्रसिद्ध भाषाविद और पूर्वोत्तर के जानकार प्रो. सतवीर सिंह ने अपने एक लेख 'पूर्वोत्तर की भाषा संपदा का अनुरक्षण' में लिखा है- ''इन भाषाओं (पूर्वोत्तर की भाषाएँ) पर संकट के अनेक कारणों में से एक कारण कोड शिफ़्टिंग या भाषायी विस्थापन भी है। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। बोडो लोक कथाओं के संपादन के समय कुछ शब्दों के अर्थ मैंने अपनी एक बोडो शिष्या से पूछे। उसने बताया कि उसे तो बोडो आती ही नहीं है। उसने बताया कि उनका परिवार गुवाहाटी में रहता है इसीलिए हमें उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती।" (समन्वय पूर्वोत्तर, नवंबर-दिसंबर, 2012, पृ.सं.17)

पूर्वोत्तर में यह दृश्य आम है। भाषायी विस्थापन को रोकने के लिए इस लेख में प्रो. सतवीर सिंह 'बुद्धिजीवियों, भाषा संस्थानों और भाषा विशेष की स्वयंसेवी संस्थाओं' की भूमिका पर जोर देते हैं और कोश-निर्माण की प्रक्रिया पर बल देने की बात करते हैं, लेकिन यह सुझाव एक सीमा तक ही ठीक है। यह मर रही भाषाओं को संग्रहालय की वस्तु तो बना देगा लेकिन उसे जनता से जोड़ नहीं पायेगा; क्योंकि जो लड़की इन भाषाओं को त्याग रही है वो जब अपनी माँ से अपनी भाषा नहीं सीख रही है तो फिर शब्दकोश से क्या सीखेगी!

पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी के विकास के संदर्भ में बात करने के क्रम में हमें इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करना होगा कि इसका स्वरूप क्या होगा। क्या हिन्दी को इस प्रदेश पर विजय करने की भावना से फैलाया जाना चाहिये या वह यहाँ की मृत हो रही भाषाओं का विकल्प बनने के लिए अंग्रेजी के साथ होड़ लगाये? वह यहाँ की मर रही भाषाओं की मौत पर जश्न मनाये या उनकी मौत को अपनी किसी बहन की मौत समझकर उस पर विलाप करे? उसकी जिम्मेवारी महज यहाँ की मर रही भाषाओं में विद्यमान लोकसाहित्य और उनके शब्दों को संगृहीत करने भर की होगी या उससे अलग भी उसका कुछ दायित्व हो सकता है? इन या इन जैसे तमाम सवालों और उनके जवाबों में ही गुँथा है हिन्दी का विकास और विकास की संभावना।

बहुभाषिकता भारतीय समाज की मूल पहचान है पर अबतक हुई जनगणनाओं में भारत के बहुभाषिक चरित्र को जानने समझने की कोशिश कम ही की गयी है। सन 1991 में हुई जनगणना में इसे जानने की कोशिश की गयी थी तब द्विभाषिकता और त्रिभाषिकता का राष्ट्रीय औसत क्रमशः 19.44 और 7.26 था, जबकि इसी जनगणना में पूर्वोत्तर भारत के अधिकांश इलाकों में यह औसत क्रमशः 30 और 15 प्रतिशत से ज्यादा था। असल में बहुभाषावाद पूर्वोत्तर भारतीय समाज की खास विशेषता है। इस विशेषता की कीमत पर हिन्दी का विकास अनुचित है। पूर्वोत्तर में हिन्दी के विकास को अन्य भाषाओं के विनाश पर निर्भर होने से बचाना होगा। हिन्दी को किसी भाषा का विकल्प नहीं बनना है, उसका सहयोगी बनना है। जबकि दुर्भाग्यपूर्ण तरीके से पूर्वोत्तर भारत के अलग-अलग राज्यों में स्थानीय भाषाओं की मौत का जिम्मेवार हिन्दी को माना जा रहा है, और इस संदर्भ में अंग्रेजी का कोई नाम तक नहीं लेता। हिन्दीभाषी राज्यों में हिन्दी के विकास की सबसे बड़ी बाधा अंग्रेजी को समझा जाता है, जबकि अहिन्दीभाषी राज्यों में स्थानीय भाषाओं की तथाकथित असली लड़ाई हिन्दी से है। यह एक बाजीगरी है जिसको समझना मुश्किल है। पूर्वोत्तर भारत की भाषिक विविधता वाला वर्तमान परिदृश्य केवल कुछ वर्षों का मेहमान रह जाएगा यदि इसके विषय में गंभीरता से विचार नहीं किया गया। हिन्दी, अंग्रेजी और असमिया जैसी भाषाओं के दबाव, सरकारों की उपेक्षा, स्थानीय जनता की निरपेक्षता और बाजारवाद की खुली प्रतिस्पर्धा में मर रही स्थानीय भाषाओं को बचाने के लिए बड़े पैमाने पर जनजागरूकता की आवश्यकता है। हिन्दी को इस जनजागरूकता अभियान की वाहिका बनना होगा।

आम तौर पर भारत को विविधताओं का देश कहा जाता है। विविधता में एकता भारतीयता की एक अनिवार्य विशेषता है। इस रहस्य की खोज में ही जार्ज ग्रियर्सन ने सन 1896 में भारत का भाषिक सर्वेक्षण किया था। स्वतंत्र भारत के निर्माताओं के लिए भारत की एकता के साथ-साथ भारतीय सभ्यता की समृद्ध विविधता की रक्षा और उसका विस्तार एक बड़ी

चुनौती थी। इस ख़ासियत को बनाए-बचाए रखने के लिए ही भारतीय संविधान में 'अल्पसंख्यक समुदाय' के पहचान के एक आधार के रूप में भाषा को भी शामिल किया गया। लेकिन भारतीय राजनेताओं और बुद्धिजीवियों ने 'भाषा' को भुलाकर महज 'धर्म' को अल्पसंख्यक समुदाय के पहचान का एकमात्र आधार बना दिया, जबकि सांस्कृतिक पहचान और अस्मिता के संकट के संदर्भ में भाषा, धर्म की तुलना में कहीं ज्यादा बड़ी हकीकत है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 29 के अनुसार भाषा के आधार पर किसी व्यक्ति को किसी शैक्षणिक संस्थान में प्रवेश से मना नहीं किया जा सकता, लेकिन आजादी के बाद निर्मित भारतीय मानस ने भाषा के सवाल को इस कदर हाशिए पर धकेल दिया कि किसी 'भाषिक अल्पसंख्यक समुदाय' का व्यक्ति अपने हक की माँग ही भूल गया है। भाषिक अधिकारों के प्रति उपेक्षा का भाव भारत और ख़ासकर पूर्वोत्तर भारत के भाषिक संकटों की मूल वजह है। अब पूर्वोत्तर के कुछ राज्यों ने इस ओर कदम बढ़ाते हुए मातृभाषाओं में प्राथमिक शिक्षा का प्रबंध करना आरंभ किया है।

'दासता की प्रतीक' अंग्रेजी भाषा को हटाकर स्वाधीन भारत की एक अनिवार्य पहचान के रूप में हिन्दी को भारत की राजभाषा बनाया गया, लेकिन जिस संविधान ने उसे यह दर्जा प्रदान किया उसी ने भारत की हर भाषा को सुरक्षा की गारंटी भी दी। हिन्दीवादी दुराग्रह के आवेग में हम यह भूल जाते हैं कि जैसे राष्ट्र का नेतृत्व करने वाले नेता की जिम्मेवारी देश के हर व्यक्ति की सुरक्षा है वैसे ही देश की राजभाषा का भी अनिवार्य दायित्व इस देश की हर भाषा का बचाव है। जबकि हिन्दी के आक्रामक प्रचार-प्रसार के क्रम में न केवल हम राजभाषा के खिलाफ विद्वेष की भावना बल्कि अहिन्दी भाषियों के मन में अपनी भाषा की मौत का खौफ भी पैदा कर देते हैं। पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी की भूमिका अंग्रेजी से प्रतिस्पर्धा कर वहाँ की मर रही भाषाओं की जगह लूट लेना भर नहीं है, या उन भाषाओं के साहित्य का संग्रहालय बन जाना भर नहीं है; बल्कि उन मर रही भाषाओं के प्रति जनजागरूकता फैलाकर उन्हें नवजीवन प्रदान करना भी है। एक भाषा की मौत महज एक भाषा की मौत नहीं होती बल्कि उसमें रची-बसी एक पूरी दुनिया की मौत होती है। भाषा संस्कृति की वाहिका होती है। यह जनता के अनुभवों का 'सामूहिक स्मृति भंडार' होती है। वर्षों तक अँग्रेजी में लिखने के बाद अपनी मातृभाषा गिकुयू में लिखने का प्रण लेने वाले केन्यायी लेखक न्गुगी वा थ्योंगो ने लिखा है कि, ''एक संस्कृति के रूप में भाषा इतिहास में जनता के अनुभवों का सामूहिक स्मृति-भंडार है। संस्कृति उस भाषा से लगभग पूरी तरह अविभेद्य है जो इसकी उत्पत्ति, निर्माण, विकास, अभिव्यक्ति और यथार्थ में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संप्रेषण का काम करती है।'' ('भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता', सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ. सं.-25) पूर्वोत्तर भारत की किसी भी भाषा की मौत का मतलब है, भारत की एक विशिष्ट संस्कृति, जीवन-बोध और भाव-संवेदन का खात्मा। यह भारत के मैदानी इलाकों की किसी भाषा के मिट जाने से ज्यादा बड़ा आघात है।

हिन्दी मध्यकाल से ही राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने वाली भाषा रही है। इस भाषा का विकास किसी क्षेत्र विशेष में नहीं हुआ। यह हिन्दीभाषी इलाके की कई जुबानों के मेल से बनी हुई भाषा है। इसका चरित्र राष्ट्रीय है और स्वरुप बेहद उदार। इस विषय में मलिक मोहम्मद ने लिखा है- ''हिन्दी राष्ट्रीय एकता की बड़ी सशक्त कड़ी रही है और आगे भी रहेगी। इसका उदय और विकास राष्ट्रीय जागरण के समानांतर इस कारण हुआ कि यह एक जोड़ने वाली भाषा है। अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की तुलना में हिन्दी संपूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व करती रही है और सभी क्षेत्रों, धर्मों, वर्गों, जातियों, एवं श्रेणियों के लोगों ने इसे अपनाया और अर्घ्य-दान दिया है। इसीलिए यह किसी संप्रदाय-विशेष अथवा प्रदेश विशेष की भाषा न होकर संपूर्ण राष्ट्र की भाषा है और इस पर सबका समान अधिकार है।'' (हिन्दी साहित्य को हिन्दीतर प्रदेशों की देन, पृ. सं. 14)

तब ऐसी स्थिति में हिन्दी के विकास के क्रम में कोई भी ऐसा कदम हिन्दी और देश दोनों के लिए आत्मघाती होगा जिससे राष्ट्रीय एकता को नुकसान हो। आजादी के बाद हिन्दी के विकास को राष्ट्रभक्ति के साथ जोड़कर देखने की कोशिश की गयी। हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान के नारे को जमीनी स्तर पर चरितार्थ करने का प्रयास किया गया। हिन्दीवादियों के इस अतिरिक्त उत्साह ने हिन्दी के विकास को काफी धक्का पहुँचाया। राजभाषा के प्रचार-प्रसार के मसले को राष्ट्रीय भावना के साथ सीधे जोड़ने की जरूरत नहीं है। इससे भारत के अन्य भाषाभाषियों के भीतर हिन्दी विद्वेष की भावना जन्म लेती है। हिन्दी को इस देश की संपर्क भाषा किसी राष्ट्रीय भावना ने नहीं बल्कि ऐतिहासिक स्थितियों ने बनाया। भारत के वर्तमान हालात हिन्दी के पक्ष में है, ज़रूरत बस इतनी है कि गैर-हिन्दी भाषियों के भाषिक स्वाभिमान को आहत किये बिना हम हिन्दी के पक्ष में महौल बनायें।

किसी भी भाषा का विकास जनता के द्वारा और जनता के लिए ही होता है। यदि कोई समाज किसी भाषा को नहीं सीखना चाहता तो आप उसे नहीं सिखा सकते। रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "राष्ट्रों की तरह भाषा का विकास भी जनतांत्रिक आधार पर होता है; जनता की उपेक्षा करके फ़ासिज्म को आधार बनाने पर राष्ट्र की तरह भाषा का भी सत्यानाश होना अनिवार्य है।''('भाषा-साहित्य और संस्कृति', किताब महल, इलाहाबाद, 1959, पृ.सं.10) संभव है कि कुछ जोर डालकर आप किसी समाज को तात्कालिक रूप से कोई भाषा बोलने के लिए मजबूर कर दें लेकिन उसको आप स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकते। फारसी वर्षों तक भारत की राजभाषा रही लेकिन भारत की आम जनता की जबान कभी न बन सकी। आज भारत में हिन्दी का जहाँ भी विकास हो रहा है वह जनस्वीकार्यता के कारण ही, किसी सरकारी या गैर-सरकारी प्रयासों के कारण नहीं। अरुणाचल ने हिन्दी को अपनी संपर्क भाषा बनाया, जबकि उसके पास असमिया और अंग्रेजी का भी विकल्प था। पहले असमिया ही इस प्रांत की संपर्क भाषा थी। सन 62 के युद्ध के बाद तेजी से बदले इस प्रदेश के हालातों ने हिन्दी के पक्ष में माहौल बनाया। यहाँ की जनता की राष्ट्रवादी चेतना और भारत के बड़े जनसमुदाय से जुड़ाव की ललक ने उन्हें

हिन्दी की ओर उन्मुख किया। आज विधानसभा से लेकर बाजार तक हिन्दी अरुणाचल में फैली है। यह जनस्वीकार्यता के बगैर संभव नहीं था। भारत में हिन्दी का विकास भारतीय लोकतंत्र की मजबूती का सीधा समानुपाती है। एक दूसरे संदर्भ में रामविलासजी की कही गयी इस बात को हम इस संदर्भ में भी समझ सकते हैं। हिन्दी-उर्दू विवाद को हिदू-मुस्लिम विवाद का पर्याय बना देने वाले साम्प्रदायिकों के लिए उन्होंने लिखा- ''जनतन्त्र का आंदोलन चलाने के लिए यह जरूरी है कि हम भाषा के प्रश्न पर एक मत हों। अगर एक ही कारखाने में काम करने वाले हिन्दू-मुसलमान मजदूर, एक ही गाँव में खेती करने वाले हिन्दू-मुसलमान किसान भाषा के झगड़े से अलग-अलग होते हैं, तो इसका बहुत बड़ा असर जनतंत्र के आन्दोलन पर भी पड़ता है। यह डर कोरी हवाई कल्पना नहीं है। हिन्दू धर्म को शुद्ध भारतीय कहने वाले औए इस्लाम को भारत ही नहीं विश्वव्यापी बताने वाले कुछ मनचले सज्जन हिन्दी और उर्दू को अपने-अपने धर्म की ध्वजा बनाकर हिन्दू-मुसलमान मजदूर किसानों में भी फूट डालने की कोशिश कर रहे हैं। जो भाषा संबंधी भेद उच्च और मध्य वर्गों तक सीमित था, वह धीरे-धीरे जनसाधारण में प्रवेश करता जा रहा है। यदि यही क्रम रहा तो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का मिलना तो दूर, इन राज्यों में अलग-अलग भी जनतंत्र के पनपने की संभावना कम होती जायगी।"(वही, पृ.सं. 06) पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी को जनव्यापी बनाने के क्रम में इस तथ्य को ध्यान में रखना फायदेमंद होगा।

भाषा की मूलभूत विशेषता संवाद है, विवाद नहीं। पर भारत में यह विडम्बना घटी कि भाषायी विवाद ने अंततः भारत विभाजन की नींव रखी। तब हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान का पर्याय हो गयी थी। हिन्दी को अपना न मानने वालों ने अपना अलग देश बना लिया। इतिहास से सबक लेते हुए अब हिन्दी को अंधराष्ट्रवाद के रथ को त्यागना होगा। हिन्दी का विरोध राष्ट्र का विरोध नहीं है, उसका समर्थन भले ही देश के प्रति लगाव को दर्शाता हो। कुछ आतंकवादी संगठनों द्वारा पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी का किया जाने वाला विरोध हिन्दी भाषा का विरोध कम, भारत राष्ट्र की एक पहचान उसकी राष्ट्रभाषा हिन्दी का या कहें केंद्रीय सत्ता का विरोध ज्यादा है।

पूर्वोत्तर भारत में कहीं भी हिन्दी का विरोध इस जमीनी सवाल पर नहीं हुआ है कि वह यहाँ की स्थानीय भाषाओं को नुकसान पहुँचा रही है, जैसा की दक्षिण भारत में हुआ। यहाँ की आम जनता ऐसा सोचती भी नहीं। कुछ संगठन अपने निजी फायदे के लिए इसकी हवा जरूर तैयार करते हैं। समस्त पूर्वोत्तर भारत प्राचीन काल से ही एक बहुभाषी समाज रहा है। तब एक और भाषा के रूप में हिन्दी का आगमन इस विशेषता को बढ़ावा ही देता है, घटाता कुछ नहीं। हिन्दी के विस्तार को किसी अन्य भाषा की मौत के साथ अनिवार्य रूप से जोड़कर देखना अनुचित है। भाषाओं का फैलाव राजनैतिक सीमाओं की तरह नहीं होता। हिन्दी भाषी प्रदेश में पिछले लगभग पाँच सौ वर्षों से फारसी राजभाषा, खड़ी बोली संपर्क भाषा, ब्रजभाषा और अवधी साहित्य की भाषा और तमाम जनपदीय भाषाएँ जनता की भाषा रहीं; लेकिन इनमें से कोई भी भाषा किसी अन्य भाषा की मौत का कारण नहीं बनी। इसमें से महज फारसी मरी-मिटी, जिसको सत्ता का समर्थन था लेकिन जनता का नहीं। जाहिर है कि भाषा का

विकास-ह्रास जनता की स्वीकार्यता-अस्वीकार्यता का मसला है न कि किसी अन्य भाषा के प्रभाव-दुष्प्रभाव का। पूर्वोत्तर में हिन्दी के विकास को इसी संदर्भ में देखना और दिखाना चाहिए।

हिन्दी आजकल बाजार और नौकरियों की भाषा हो गयी है। यह भारतीय राजनीति और संस्कृति की भी भाषा है। भारतीय जनता के संवाद की भाषा तो यह प्राचीन काल से ही है। यह भारत में हिन्दी की जमीनी हकीकत है। इसे नकारा नहीं जा सकता। पूर्वोत्तर भारत इस हकीकत को समझने लगा है और उसे यह समझाने की भी आवश्यकता है। हिन्दी का अध्ययन अब महज राष्ट्रीय दायित्वों की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि जीविकोपार्जन और राष्ट्रीय पहचान के लिए भी आवश्यक है। शोभानाथ दुबे ने अपने लेख 'पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी का परिदृश्य' में लिखा है कि ''हमारे देश के पूर्वोत्तर भारत के अहिन्दी प्रांतों में हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार भली-भाँति हो जाने पर दो तरह के लाभ अवश्य होंगे। पहला तो यह कि हिन्दीतर भाषी, हिन्दी सीखकर रोजी-रोटी से जुड़ सकेंगे और दूसरा- हिन्दी पूर्वोत्तर की अन्य भाषाओं के संपर्क से अधिक व्यापक और समृद्ध होगी, जो लहलहाती नदी की भाँति अपनी संस्कृति को साथ लेकर अपना रास्ता स्वयं बनाते हुए, अग्रसर होगी।" (समन्वय पूर्वोत्तर, अंक-6, जन-मार्च-2010, पृ. सं. 48)

2001 की जनगणना के अनुसार पूर्वोत्तर भारत के अलग-अलग राज्यों में हिन्दी बोलने वालों की संख्या निम्न है- अरुणाचल(81,186), असम(15,69,662), नागालैण्ड(56,981), मेघालय(50,055), मिजोरम(10,530), मणिपुर(24,720), सिक्किम(36,072), त्रिपुरा(53,691)। इस गणना में वे लोग ही शामिल होंगे जिन्होंने अपनी मातृभाषा हिन्दी बतायी होगी। तब तय है कि इसमें उन स्थानीय लोगों को जगह नहीं मिली होगी जो हिन्दी बोलना तो जानते हैं लेकिन उनकी मातृभाषा कुछ और है। हिन्दी की उपस्थिति और स्थिति के आधार पर मोटे तौर पर भारत को तीन हिस्से में बाँटा जा सकता है- हिन्दीभाषी क्षेत्र, दक्षिण भारत और पूर्वोत्तर भारत। दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार-प्रसार आजादी के बहुत पहले से ही प्रारंभ हो गया था। मुगल काल में ही हिन्दी के एक रूप दक्खिनी हिन्दी का जन्म हैदराबाद और उसके आस-पास के इलाके में हुआ था। दक्षिण भारतीय भाषाएँ और वहाँ का समाज भी सांस्कृतिक रूप से हिन्दी के ज्यादा करीब है लेकिन वहाँ हिन्दी का वैसा प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया जैसा पूर्वोत्तर भारत में हुआ है। आज समस्त पूर्वोत्तर भारत की संपर्क भाषा हिन्दी हो गयी है और इस क्षेत्र के कई इलाके हिन्दीभाषी इलाकों में तब्दील हो गये हैं। यहाँ की युवा पीढ़ी हिन्दी में अपना भविष्य देख रही है और आगे भी देखेगी, यदि उसे बहकाया नहीं गया। उम्मीद की जानी चाहिए कि भविष्य में भी इस क्षेत्र में हिन्दी का विकास-विस्तार बढ़ता जाएगा और यह पूर्वोत्तर भारत की अन्य भाषाओं की सौत की जगह बहन बनकर उनके ऊपर छाये संकट का बादल छांटेगी और उनके विकास का मार्ग प्रशस्त करेगी।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 07697425204

हिन्दी और सूचना प्रौद्योगिकी

हिमांशु कुमार

आज का युग सूचना प्रौद्योगिकी का युग है। आज सूचना प्रौद्योगिकी के कारण बड़ी तेजी के साथ तकनीकी विकास संभव हुआ है, जिसने भारतीय समाज को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व-समुदाय को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास किया है। आज नयी सूचना प्रौद्योगिकी की ही देन है कि सम्पूर्ण विश्व को 'ग्लोबल विलेज' की संज्ञा दी जाती है। वर्तमान वैश्विक धरातल पर सूचना प्रौद्योगिकी का अस्तित्त्व बहुत ही प्रभावशाली रूप में बढ़ता जा रहा है। सही रूपों में देखा जाये तो आज सूचना प्रौद्योगिकी एक ऐसी व्यवस्था बन गयी है जिसके बिना समाज अस्तित्त्वहीन हो जायेगा। सूचना प्रौद्योगिकी का महत्त्व आज बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कारों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया है। समूचा विश्व इसकी चकाचौंध से अभिभूत है। सूचना प्रौद्योगिकी को समाज के विकास का मूल आधार कहा जाता है। आधुनिक वैश्विक परिवेश में मनुष्य की सफलता उसके सूचना संग्रह और सूचना के स्तर पर निर्भर करती है। मानव सभ्यता के विकास के लिए यदि सूचना प्रौद्योगिकी को इक्कीसवीं सदी का सबसे बड़ा उपहार कहा जाय, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

सूचना प्रौद्योगिकी दो शब्दों 'सूचना' और 'प्रौद्योगिकी' से मिलकर बना है। सूचना को अंग्रेजी में Information कहते हैं। वह बात जो किसी व्यक्ति को किसी विषय का ज्ञान या परिचय कराने के लिए कही या बतायी जाये, सूचना कहलाती है। प्रौद्योगिकी को अंग्रेजी में 'Technology' कहते हैं। किसी भी आवर्ती कार्यकलाप पर लागू औद्योगिक प्रक्रियाओं के व्यवस्थित एवं योजनाबद्ध ज्ञान या कार्य को प्रौद्योगिकी कहते हैं। व्यापक अर्थों में सूचना प्रौद्योगिकी के सन्दर्भ में कहा जाता है कि 'आज के वैश्विक परिदृश्य में सूचना प्रौद्योगिकी एक ऐसी अवधारणा है, जिसके अन्तर्गत हार्डवेयर, सॉफ्टवेयर और इण्टरनेट के माध्यम से सूचना प्रक्रिया और उसके प्रबंधन सम्बन्धी सभी अंगों को सम्मिलित किया जाता है।'' प्रो. हरिमोहन लिखते हैं ''सूचना प्रौद्योगिकी एक ऐसा अनुशासन है, जिसमें सूचना का संचार अथवा आदान-प्रदान त्वरित गति से दूरस्थ समाजों में विभिन्न तरह के साधनों तथा संसाधनों के माध्यम से सफलतापूर्वक किया जाता है।''[1] अर्थात् हम सूचना प्रौद्योगिकी के अन्तर्गत उन समस्त उपकरणों और पद्धतियों को सम्मिलित करते हैं जिनसे सूचना के संचालन में सहायता मिल सकती है।

सूचना प्रौद्योगिकी एक सततू चलने वाली प्रक्रिया है। इसमें रोज नये आयाम जुड़ रहे हैं। आज सूचना प्रौद्योगिकी के विकास से विश्व संचार व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन देखने को मिल रहा है। लेकिन सूचना क्रान्ति और सूचना प्रौद्योगिकी के मूल स्वर में अन्तर है। 'थर्ड वेव' के लेखक और सुप्रसिद्ध विचारक ऐलविन टॉफलर ने इस क्षेत्र में आये परिवर्तनों को सबसे पहले सूचना क्रान्ति या तीसरी क्रान्ति कहा था तभी से सूचना क्रान्ति शब्द का प्रयोग सूचना प्रौद्यागिकी के रूप में होने लगा। क्रान्ति हमेशा समाज-सापेक्ष होती है लोकहितकारी एवं जनहितकारी होती है। आज का युग सूचना विस्फोट का युग है। आज का मानव अपनी वैचारिक क्षमता पर कम भरोसा करता है जबकि संचार-साधनों से प्राप्त विचारों पर अधिक भरोसा करता है। यही कारण है कि आज के वैश्वीकरण बनाम बाजारवाद ने इस समूचे भूमण्डल पर भाषा, संस्कृति, कर्मनिष्ठा और नैतिक मूल्यों में ही विस्फोट नहीं किया अपितु ग्लोब्लाइजेशन की मूल अवधारणा में ही आमूल चूल परिवर्तन कर डाला है। वस्तुतः यदि देखा जाये तो उसने न केवल भारतीय संस्कृति के मूल स्वर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को दरकिनार कर दिया है, बल्कि द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त 'बर्टेडं रसेल' की सम्पूर्ण विश्व को एक सूत्र में बाँधने वाली परिकल्पना ग्लोबल विलेज के वास्तविक स्वरूप को भी छिन्न-भिन्न कर दिया है और उसकी जगह विश्व के बाजारीकरण को महत्त्व दिया है, तथा 'ग्लोब्लाइजेशन' शब्द का मूल सम्पूर्ण विश्व को एक बाजार के रूप में परिवर्तित करने की अवधारणा बना दिया है। इससे यह बात स्पष्ट है कि सूचना क्रान्ति और सूचना प्रौद्योगिकी के मूल रूप में अन्तर है। सूचना प्रौद्योगिकी सूचना क्रान्ति नहीं हो सकती है। प्रौद्योगिकी ज्ञान की ऐसी शाखा है जिसका सम्बन्ध यांत्रिक कला, प्रयोजनपरक विज्ञान अथवा इन दोनों के समन्वित रूप से है। दूसरे शब्दों में कहें तो सूचना प्रौद्योगिकी जनसंचार माध्यमों में आया विकास है और सूचना क्रान्ति संचार माध्यमों से उत्पन्न प्रभाव, सम्प्रेषण, सूचना, सन्देश तथा अभिव्यक्ति का विकसित स्वरूप है। डैनियल बेल ने 1976 में कहा था कि विश्व के उत्तर प्रौद्योगिकी समाज (Post Industrial Society) के बाद का समाज ऐसी सूचना क्रान्ति के दौर से गुजरेगा जो हमारे समाज को सूचना परक समाज (Information Society) में बदल देगा। वस्तुतः आज डैनियल बेल की बात अक्षरशः सही प्रतीत हो रही है। हमारा समाज, उसकी समस्त गतिविधियाँ सूचना प्रौद्योगिकी पर केन्द्रित हो गयी हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी के बढ़ते हुए इस दौर में संचार व्यवस्था अभूतपूर्व रूप से आगे बढ़ी है। आज सूचना प्रौद्योगिकी में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। अमेरिका और जापान जहाँ उद्योग जगत में महत्त्वपूर्ण माने जा रहे थे, वहीं आज वे सूचना जगत के सिरमौर हो गये हैं। इन देशों ने दूरसंचार उपग्रह और कम्प्यूटर विज्ञान में आशातीत सफलता प्राप्त की है। इन्होंने 'सूचना हाईवे' और 'सूचना सुपर हाईवे' को अन्वेषित किया है। 'इण्टरनेट' एक ऐसा ही हाईवे है जिसके माध्यम से सुदूर क्षेत्रों में बैठे हुए लोग किसी के भी विषय में और किसी भी दूरी पर स्थित लोगों के विषय में अभीप्सित जानकारी प्रात कर लेते हैं। आधुनिक संचार व्यवस्था में इंटरनेट

ने सबसे अधिक तकनीकी क्रान्ति की है। सम्पूर्ण विश्व को जोड़ने की यह आधुनिकतम संचार प्रणाली है। आज के वैज्ञानिक परिवेश में विद्यार्थी, अध्यापक, डॉक्टर, विज्ञानी, व्यापारी, शोधार्थी आदि तथ्यों की जानकारी के लिए इण्टरनेट का भरपूर उपयोग कर रहे हैं। आज किसी भी समाज के लिए इण्टरनेट वैसे ही ढाँचागत आवश्यकता है जैसे कि सड़कें, टेलीफोन, मोबाइल या विद्युत ऊर्जा। वस्तुतः यदि सूचना तकनीकों का सही अनुप्रयोग किया जाये तो इसमें जनकल्याण की अपार संभावनायें छिपी हुई हैं।

आज सूचना प्रौद्योगिकी का नाम लेते ही जन सामान्य के मन में जिस बात का बिम्ब बनता है, वह है कम्प्यूटर। कम्प्यूटर सूचनाओं के संग्रह, आदान-प्रदान एवं उनके प्रबंधन का बेहतर साधन है। कम्प्यूटर एक ऐसा यन्त्र है जो आज के विकासशील और विकसित समाज की जीवनी-शक्ति बन गया है। वर्तमान समय में कम्प्यूटर मानव जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। आज ऐसा कोई कार्य नहीं हैं जो कम्प्यूटर द्वारा न किया जा सके। कम्प्यूटर का सबसे अधिक उपयोग जनसंचार के क्षेत्र में हो रहा है। कम्प्यूटर की ही देन है कि सूचना तकनीकी का विकास हुआ, जिसे विश्व-समुदाय द्वारा 'आई.टी.उद्योग' की संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः कम्प्यूटर एक ऐसा आविष्कार है, जिसने अपनी अपार क्षमता से ज्ञान के क्षेत्र में एक अद्‌भुत सूचना-संसार का निर्माण किया है।

आज सूचना तकनीकी का आधार कम्प्यूटर बन गया है जिसका आविष्कार मानव ने किया है। परन्तु मात्र कम्प्यूटर (एक वैज्ञानिक बक्सा) द्वारा सूचना प्रौद्योगिकी की सम्पूर्णता सम्भव नहीं है। सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जहाँ कम्प्यूटर का विशेष महत्त्व है, वहीं भाषा का सन्दर्भ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सूचना के आदान-प्रदान में अथवा सम्प्रेषण के मूल में भाषा का अस्तित्त्व पाया जाता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा विचार और अनुभूति का सहजता के साथ सम्प्रेषण सम्भव है। वस्तुतः भाषा एक सामाजिक प्रक्रिया है। समाज में व्यक्ति और व्यक्ति के बीच विचार-विनिमय का साधन भाषा है। 1939 में एडवर्ड सपीर ने 'Language, Culture and personality' शीर्षक लेख में भाषा, संस्कृति और मनोविज्ञान का अन्तः सम्बन्ध चित्रित करते हुए लिखा कि- "मानव न तो केवल वस्तुपरक संसार में रहता है और जैसा साधारणतया समझा जाता है, न ही केवल सामाजिक क्रियाओं के संसार में ही रहता है, अपितु वह उस विशेष भाषा की दया पर निर्भर करता है जो उस समाज में अभिव्यक्ति का साधन बन चुकी है। यह कल्पना करना काफी बड़ी भ्रान्ति है कि मनुष्य भाषा के प्रयोग के बिना ही निश्चित रूप से वास्तविकता के साथ समझौता कर लेता है और यह कि भाषा, संचारण या चिंतन की विशिष्ट समस्याओं को सुलझाने का केवल प्रासंगिक साधन है। तथ्य की बात यह है कि वास्तविक संसार बहुत अधिक सीमा तक अचेतन रूप में एक वर्ग की भाषाई आदत पर निर्मित होता है हम सुनते हैं और देखते हैं तथा जैसा कुछ अधिकतर हम अनुभव करते हैं, वह सब इसीलिए है कि हमारे वर्ग की भाषाई आदतें अर्थ निर्णय के कुछ

विकल्प पहले ही निश्चित कर देती हैं।''[2] गरज यह कि भाषा के विशिष्ट प्रयोगों के विषय में हमें भाषा के उस प्रभाव को जो व्यक्तिगत अथवा सांस्कृतिक जैसी अन्य गतिविधियों पर पड़ता है मान्यता प्रदान करने की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी भाषा की सामग्री को व्यवस्थित करने की। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि -''भाषा संस्कृति के निर्माण में सहायक होती है, भाषा द्वारा हम अपनी संस्कृति व्यक्त करते हैं, भाषा स्वयं भी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है।...संस्कृति सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश पर विजय पाने का एक साधन है। उसमें मनुष्य के भाव, विचार, संस्कार, संवेदनायें सभी शामिल हैं। भाषा भी ऐसी ही संस्कृति है। वह पत्थर, लकड़ी या धातुओं के बने हुए आयुधों जैसी स्थूल नहीं है, उसका स्तर अधिक सूक्ष्म है किन्तु वह कोई अतीन्द्रिय व्यापार नहीं है। भाषा बोली जाती है, सुनी जाती है, लिखी जाती है, वह मन और इन्द्रियों का व्यापार है। उसके अर्थ का आधार यह भौतिक जगत है मनुष्य की काल-सापेक्ष और देश-सापेक्ष चेतना है, मनुष्य का दूसरे मनुष्यों से, वाह्य जगत् से सम्बन्ध है।''[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा, सांस्कृतिक विकास का महत्त्वपूर्ण सोपान है।

'भाषा' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। सामान्य रूप से भाषा उन सभी माध्यमों का बोध कराती है जिसे भावाभिव्यंजन का काम लिया जाता है। भाषा शब्द का प्रयोग पशुओं या पक्षियों की बोली के लिए भी किया जाता है। अपना अभिप्राय व्यक्त करने के लिए आँख, हाथ, सिर आदि का संचालन भी भाषा के अन्तर्गत आता है जिसे आंगिक या इंगित भाषा कहते हैं। 'भाषा शब्द संस्कृत के 'भाष' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है- व्यक्त वाणी। व्यक्त वाणी का अर्थ है स्पष्ट और पूर्ण अभिव्यंजना अर्थात् भाषा का मुख्य प्रयोग ध्वनि संकेतों की सहायता से भावों या विचारों की अभिव्यंजना के लिए ही होना चाहिए। एडवर्ड डब्ल्यू सईद ने लिखा है कि 'प्रत्येक बुद्धिजीवी व्यक्ति का जन्म एक भाषा में हुआ होता है, और वह अपने जीवन का बड़ा हिस्सा उसी भाषा में बिताता है, जो उसकी बौद्धिक गतिविधियों का प्रमुख माध्यम होती है।[4]

वस्तुतः भाषा ही वह सशक्त माध्यम है जिससे भावानुमतियों को व्यक्त किया जाता है। भाषा की समृद्धि का परिचायक शब्दों की संख्या नहीं अपितु भाव व्यंजकता होती है जिसके लिए भाषा को समर्थ बनाना आवश्यक होता है। एक तरह से कहा जाय तो भाषा आदिम मनुष्यों की पहचान रही है। भाषा ही वह कारण है जिससे मनुष्य जाति अन्य जीवों से भिन्न नजर आती है। नेहरू जी ने भाषा की समस्या के संबंध में विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि ''भाषा मनुष्य का एक प्राणवान संस्कार है। उससे मनुष्य के कई सामाजिक सरोकार उपजते हैं।''[5]

कहा जाता है कि यदि समाज स्थिर हो जाता है तो भाषा अलसा जाया करती है अर्थात वहाँ भाषा विकास नहीं कर पाती बल्कि ऐसे समाज में भाषा को शास्त्रों में बाँधने का काम होता है। सच यह है कि बदलाव की विकलता से गुजरते समाज में ही बोलियों के साथ

तोड़-फोड़ और उठापटक होती है तथा यहीं से भाषा अपने निर्माण और विकास का रास्ता निकालती है, जीवन पाती है और अपने आधार को गहरा और विस्तृत कर मजबूत होती है।

वर्तमान में हिन्दी भाषा के अन्तर्गत बदलाव की बयार चल रही है। कहते हैं कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से भाषिक परिवर्तन नकारात्मक हों या सकारात्मक- यह भाषा के विकास का ही द्योतक है। आज का युग सूचना का युग है। न चाहकर भी हम सूचनाओं से घिरे हुए हैं। ये सूचनायें हमें विभिन्न माध्यमों से प्राप्त होती हैं और संचार तकनीकी का विकास इस दायित्व का निर्वाह करता है। यह विकास संचार माध्यमों के बल पर और बाजार की ताकत के बल पर हो रहा है। सूचना और तकनीक के युग में जनसंचार माध्यमों की भाषा बदल रही है। सच यह है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में हिन्दी भाषा की चुनौतियाँ भी पूँजी और संचार की परस्पर-विरोधी भूमिका से तय हो रही हैं। केवल हिन्दी में ही विभिन्न भाषाओं के शब्दों का आगमन नहीं हो रहा है बल्कि हिन्दी भाषा के हजारों शब्दों का प्रयोग अन्य भाषाओं में धड़ल्ले से हो रहा है। वस्तुतः अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने में जो भाषा जितनी अधिक समर्थ होगी उसकी उम्र और प्रयोग करने वालों की संख्या उतनी ही अधिक बढ़ेगी। हिन्दी भाषा इसको चरितार्थ करते हुए अपनी ताकत के बल पर ही अब सात समुंदर पार दुनियाभर में अपना परचम लहरा रही है।

आज के विविध जनसंचार माध्यमों रेडियो, टेलीविजन, समाचारपत्र, कम्प्यूटर इत्यादि द्वारा सर्वाधिक प्रयुक्त की जाने वाली भाषा हिन्दी ही है। भारत की अधिकांश जनता इसे बोलती और समझती है। फिल्मों (सिनेमा) ने हिन्दी को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का दर्जा देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। हिन्दी की फिल्मों के दर्शक पूरे विश्व में फैले हुये हैं जिससे हिन्दी का विकास एक सशक्त संचार और सम्पर्क भाषा के रूप में हो रहा है।

संचार माध्यमों की भाषा में विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया जा रहा है। जिसका परिणाम है कि हिन्दी और अंग्रेजी के सम्मिश्रण को 'हँग्रेजी', 'हंग्लिा', 'खिचड़ी भाषा, 'नई हिन्दी', 'अच्छी हिन्दी', 'मिश्रित हिन्दी' और इसके प्रयोग को 'हिंग्लिशीकरण' की संज्ञा दी गई है।

भारतीय भाषाओं के परिदृश्य का अवलोकन करें तो पाएंगे कि भारत में 1650 से अधिक भाषायें और बोलियाँ प्रचलित हैं, जिनमें से 22 भारतीय भाषायें भारत के संविधान की 8 वीं अनुसूची में राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में परिगणित की गई हैं। फिर भी यह देश एक भाषिक क्षेत्र (Linguistic Zone) है। कुछ सार्वभौमिक तथा कुछ विशिष्ट लक्षण लिए हुए हिन्दी भाषा का विकास तीव्र गति से हुआ है और इसके लिए यदि हम भाषा प्रौद्योगिकी का उपयोग करें तो हम भारतीय भाषाओं में कम्प्यूटर साधित स्वयं भाषा शिक्षक ऑटो-करेक्ट, ग्रामर चैकर और मशीनी अनुवाद जैसे अत्यन्त जटिल भाषिक उपकरणों का विकास कर सकते हैं। इस सन्दर्भ में अशोक चक्रधर की कविता का भाव बड़े काम का है जिसमें उन्होंने एक ऐसे यन्त्र की कल्पना

की थी जो कक्षा में पढ़ा रहे प्रोफेसर और सामने बैठी छात्र, तथा पत्नी और मित्र की मानसिकता को सहज ही रूपायित कर रहा था। वस्तुतः जिस दिन कवि की उस कल्पना को साकार रूप मिल जायेगा सचमुच कम्प्यूटर हमारी जिन्दगी को किस मोड़ पर ले जाकर खड़ा कर देगा, कहा नहीं जा सकता?

पहले किसी देश की समृद्धि और विकास का आकलन उसकी अर्थव्यवस्था और उद्योगों से किया जाता था। उसकी शक्तिमत्ता सैन्य शक्ति और अनेक प्रकार के आयुध-भण्डारों से आँकी जाती थी। आज मूल्यांकन के ये मानदण्ड बदल गये हैं। अब किसी देश का सर्वांगीण विकास उक्त देश की भाषा व प्रौद्योगिकी पर आधृत हो गया है। विश्व के विकसित तथा विकासशील देशों की स्थिति इस सन्दर्भ में देखी जा सकती है। इन देशों ने अपनी-अपनी राष्ट्रभाषा में वेबसाइट्स का निर्माण किया है और अपना सारा कार्यव्यापार इन्हीं के माध्यम से करते हैं। भारत जैसे विकासशील देश के लिए आज यह अपरिहार्य हो गया है कि यहाँ के विज्ञानी उद्योग और ज्ञान में समन्वय स्थापित करें और इस सन्दर्भ में आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की जानकारी सामान्य जन तक उनकी ही भाषा में सम्प्रेषित करें जिससे अन्य देशों से प्रतिस्पर्धा करके आगे निकला जा सके। वर्तमान समय में किसी भी भाषा को विकसित भाषा के रूप में तभी माना जा सकता है, जब उस भाषा में विज्ञान और उद्योग विषयक जानकारी सन्निहित हो। कम्प्यूटर के आरम्भिक दौर में ऐसा लगता था जैसे अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में इस सन्दर्भ में सोचा भी नहीं जा सकता है क्योंकि कम्प्यूटर का विकास सर्वप्रथम ऐसे देशों में हुआ, जिनकी भाषा मुख्यतः अंग्रेजी या रोमन लिपि पर आधारित कोई योरोपीय भाषा थी लेकिन अब भारतीय युवा-विज्ञानियों ने इस सन्दर्भ में भाषा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति सी कर दी है। जहाँ उन्होंने विदेशों में आई.टी. क्रान्ति लाने में अपनी प्रखर तेजस्विता और ओजस्विता का परिचय दिया है, वहीं उन्होंने अपने देश में सूचना तकनीक के अनुप्रयोग में अंग्रेजी के व्यामोह और भय को दूर करने के उद्देश्य से भी बड़े महत्त्वपूर्ण कदम उठाये हैं। आज अंग्रेजी के स्थान पर अपनी राष्ट्रभाषा को सूचना की भाषा के रूप में स्थान मिलने लगा है। भारत के युवा वैज्ञानिकों ने अपने उर्वर मस्तिष्क और अनुभवी दिशा-निर्देशों से प्रगति के शिखर पर प्रतिष्ठित सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हिन्दी भाषा की प्रतिष्ठा को स्थापित कर पाने में सफलता पा ली है। यह अकारण नहीं है कि आज विश्व के कम्प्यूटर विज्ञानी संस्कृत को कम्प्यूटर के लिए सर्वाधिक उपयोगी मानते हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हिन्दी के प्रयोगों को अब तेजी से विस्तार और आधार मिलने लगा है। भारत तथा विश्व की अनेक सॉफ्टवेयर निर्माता कम्पनियों का ध्यान कम्प्यूटर के क्षेत्र में हिन्दी के प्रयोग की ओर गया है। कम्प्यूटर के क्षेत्र में कार्यरत भारतीय विज्ञानी ने सरल कुंजी पटल और उसकी प्रणाली का विकास किया है। इस दिशा में सन् 1978 में सभी भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले सबसे पहले 'फोटो टाइप टर्मिनल' की रचना की गई,

फलस्वरूप देवनागरी लिपि और अन्य भारतीय लिपियों का प्रयोग कम्प्यूटर पर तेजी से होने लगा। सरकार की ओर से इस दिशा में तेजी से कदम उठाये गये। 1980 में भारत सरकार के इलेक्ट्रानिकी विभाग (अब सूचना प्रौद्योगिकी विभाग) ने कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी विषयक शोध और विकास के सन्दर्भ में अनेक योजनाओं को प्रारूप दिया। हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में मुद्रण के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति 80 के दशक में कम्प्यूटर पर शब्द संसाधन के मुद्रण के रूप में आयी। 1983 में नई दिल्ली में 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' में हिन्दी और अंग्रेजी में एक साथ काम करने वाले हिन्दी के पहले कम्प्यूटर 'सिद्धार्थ' के प्रदर्शन द्वारा कम्प्यूटर के प्रयोग और उसकी चर्चा को बहुत विस्तार मिला। आई.आई.टी. कानपुर और भारत सरकार के सूचना प्रौद्योगिकी विभाग के पुणे के सी-डैक (Centre for Advanced Computing) के संयुक्त तत्त्वावधान में ग्राफिक्स एण्ड स्क्रिप्ट टेक्नालॉजी (जिस्ट) का विकास किया गया। इसके माध्यम से अंग्रेजी के डी-बेस, वर्ड स्टार, लोटस आदि सॉफ्टवेयरों को भारतीय भाषाओं में काम करने के लिए आधार मिल जाता है। इसकी सहायता से सभी कार्य हिन्दी एवं अन्य स्वीकृत भारतीय भाषाओं में हो जाते हैं। इससे किसी एक भाषा की सामग्री को दूसरी भाषा की लिपि में लिप्यन्तरित किया जा सकता है। रेलवे-आरक्षण सूची की हिन्दी-अंग्रेजी प्रतियाँ इसका एक नमूना है। आर.के. कम्प्यूटर्स द्वारा विकसित 'सुपर विन्डोज 20' के माध्यम से आज न केवल ई-मेल के संदेशों का आदान-प्रदान देवनागरी में किया जाता है, अपितु वेब पेज भी हिन्दी में लिखा जा सकता है। भारत सरकार के राजभाषा विभाग का 'लीला हिन्दी प्रबोध,' लीला हिन्दी प्रवीण' और 'लीला हिन्दी प्राज्ञ', हिन्दी भाषा शिक्षण से सम्बन्धित सॉफ्टवेयर हैं जिनकी सहायता से अहिन्दी भाषी और विदेशी लोग सहजता से हिन्दी सीख सकते हैं। हिन्दी के व्यापक प्रचार-प्रसार में यूनिकोड की सुविधा से क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ है। आज विश्व की सभी लिखित भाषाओं के लिए यूनिकोड नामक विश्वव्यापी कोड का उपयोग माइक्रोसॉफ्ट, आई. बी.एम. लाइनेक्स, ओरेकल जैसी विश्व की लगभग सभी कम्प्यूटर कम्पनियों द्वारा किया जा रहा है। इसी के मद्देनजर भारत में महामहिम राष्ट्रपति ने 14 सितम्बर, 2006 को हिन्दी दिवस पर केन्द्रीय हिन्दी संस्थान द्वारा विज्ञान भवन, नई दिल्ली में आयोजित विशेष समारोह में अपने भाषण में यूनिकोड के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था- ''विश्व के अनेक हिस्सों में हिन्दी भाषा आसानी से बोली जा सके, इसके लिए इंटरनेट पर हिन्दी साहित्य का यूनिकोड स्वरूप उपलब्ध करवाना होगा।''[6] कहना न होगा कि भारत सरकार ने इस दिशा में तेजी से कदम बढ़ाया है। प्रभा साक्षी नामक हिन्दी समाचार पोर्टल के प्रबंध सम्पादक श्री बालेंदु दाधीच के निर्देशन में 13-15 जुलाई, 2007 को न्यूयार्क में आयोजित किये गये 8 वें विश्व हिन्दी सम्मेलन के लिए एक विशेष वेबसाइट का निर्माण किया गया था। www.vishwahindi.com नाम से लांच की गई यह द्विभाषी वेबसाइट पूर्णतः यूनिकोड पर आधारित है। बी बी सी हिन्दी, वॉइस ऑफ अमेरिका, यूनिवार्ता, पी.टी.आई. (हिन्दी), नवभारत टाइम्स और दैनिक जागरण की वेबसाइट यूनिकोड में परिवर्तित हो गई हैं। वागर्थ, गीता प्रेस, गोरखपुर, विकिपीडिया, अन्यथा

जैसी वेबसाईट भी यूनिकोड में निर्मित की गई हैं। यूनिकोड आधारित कोडिंग प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि कोई भी उपयोगकर्त्ता हिन्दी या विश्व की किसी भी भाषा में निर्मित वेबसाइट की सामग्री को बिना फॉन्ट डाउनलोड किये ही पढ़ सकता है। आज हिन्दी में अनेक पोर्टल प्रारम्भ किये गये हैं जिनके माध्यम से देश विदेश की खबरें, वर्गीकृत विज्ञापन, व्यापार सम्बन्धी सूचनायें, शेयर बाजार, शिक्षा, मौसम, खेलकूद, पर्यटन, साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन इत्यादि के बारे में प्रतिदिन ताजा सूचनायें मिलती हैं। भारतीय भाषाओं की मूलभूत आन्तरिक समानता को ध्यान में रखते हुए भारतीय भाषाओं के लिए समान कोड 'इस्की' स्वीकार किया गया है। यह कोड भारतीय लिपियोंदेवनागरी, गुरूमुखी, गुजराती, उड़िआ, बंगाली, असमिया, तेलगू, कन्नड़, मलयालम, और तमिल से सम्बन्धित सभी चिन्हों से युक्त हैं। इसके आधार पर दस भारतीय भाषाओं का अध्ययन इनमें से किसी भी लिपि में किया जा सकता है। इसके माध्यम से हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में कोश, थिसारस, शब्द-सूची जैसे कठिन कार्यों को सहजता से किया जा सकता है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग और सूचना प्रौद्योगिकी विभाग ने संयुक्त रूप से हिन्दी शब्दावली का इंटरनेट वर्जन निर्मित किया है। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, आगरा और भारतीय इलेक्ट्रॉनिक अनुसंधान एवं विकास केन्द्र द्वारा 14 भारतीय भाषाओं का कोश इस प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण अंग है। आई.आई.टी. हैदराबाद में शब्दाँजली शब्दकोश के निर्माण की प्रक्रिया भी उल्लेखनीय है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी विश्वकोश' के बारह खण्डों का इंटरनेट पर लाया जाना बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऐसे बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। वस्तुतः सूचना प्रौद्योगिकी ने अपनी उन्नत तकनीकों के माध्यम से जनसंचार माध्यमों में क्रान्ति का सूत्रपात कर दिया है। जिससे भाषा के विकास को भी एक नयी दिशा मिली है। आज अनेक गौरव ग्रन्थ और महत्त्वपूर्ण सूचनायें भी सी डी के रूप में भारतीय भाषाओं में उपलब्ध होने लगी हैं। इनमें प्रमुख हैं सी-डैक द्वारा विकसित ज्ञानेवरी, भारतीय चुनाव आयोग द्वारा तैयार की गई मतदाता-सूचियाँ और कुछ निजी संस्थाओं द्वारा विकसित पंचतंत्र की कथायें इत्यादि।

आधुनिक जनसंचार माध्यमों में आज मोबाइल दुनिया में सबसे सस्ता और सुलभ माध्यम है। भारत में सन् 2004 के बाद से ही मोबाइल में एस.एम.एस के द्वारा हिन्दी प्रयोग को बढ़ावा मिला। जब देश में मोबाइल का प्रयोग बढ़ा और उनमें हिन्दी भाषा का सॉफ्टवेयर आया तो मोबाइल से एस.एम.एस. अंग्रेजी के अलावा हिन्दी में भी भेजे जाने लगे। मोबाइल की उपलब्धता का सरलीकरण होने से जब यह किसान, मजदूर और हिन्दी पट्टी के प्रयोक्ताओं के हाथों में पहुँचा तो वास्तव में भाषा सम्बन्धी परिवर्तन उपस्थित हुए हिन्दी भाषा के एस. एम.एस. रोमन लिपि में टाइप करके सम्प्रेषित होने लगे जिससे भाषा का नया रूप सामने आया। यह प्रौद्योगिकी का प्रभाव ही था कि धीरे-धीरे इस रूप को भी हिन्दी ने स्वीकार करने का प्रयास किया है। मोबाइल के अलावा हिन्दी को सबसे ज्यादा अगर किसी माध्यम ने बदला तो सिनेमा ने बदला है। मुम्बइया सिनेमा की हिन्दी को देखा जा सकता है। एफ.एम. रेडियो

चैनलों ने नई मैट्रो-हिन्दी को जन्म दिया है। मिश्रित, चपल, चटपटी और मनोरंजक, पॉप हिन्दीयुवा गतिवान जगत की हिन्दी है। इंटरनेट (अंतर्जाल) पर हिन्दी की नित नई लीला चल रही है। हिन्दी का नया स्वरूप निर्मित हो रहा है।

वस्तुतः भाषा की हैसियत साहित्य से न बनकर उसे बरतने वालों की हैसियत से बनती है। अंग्रेजी के अखबार, हिन्दी के अखबारों से बहुत कम बिकने के बावजूद, जितने मँहगे विज्ञापन ले आते हैं, उतने हिन्दी के अखबार बहुत बिककर भी नहीं ला पाते। पर हिन्दी अब विपन्नों की भाषा नहीं हैं वह एक नई हैसियत की ओर बढ़ रही है। आज सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नये-नये अविष्कार हो रहे हैं, सूचना प्रौद्योगिकी ने हमारी जीवन शैली को सर्वथा नया आयाम दिया है। प्रत्येक नई चीज को सन्देह की दृष्टि से देखना और परम्परा के विघटन की चिन्ता करना मानव स्वभाव का सच है। सूचना तकनीक के विकास में जहाँ अनेक अच्छाइयाँ हैं, वहीं कुछ बुराइयाँ भी स्वाभाविक रूप से जन्मती हैं। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है कि‘‘प्रत्येक भाषा की अन्तर्निहित नियमावली अलग-अलग होती है। इतना ही नहीं हर समाज की भाषा, उसकी संस्कृति, इतिहास और भूगोल से भी प्रभावित होती है।’’[7] इसलिये यह सच है कि भाषा को सुरक्षित रखकर ही हम अपने देश की संस्कृति को संरक्षित कर पायेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तेजी से बढ़ता हुआ अपराधीकरण और अनेक देशों की नष्ट होती भाषा-संस्कृति उस देश की संस्कृति के गिरते स्तर का परिचायक है। अतः भाषा को सुरक्षित रखने के लिए हमें तकनीक के प्रयोग में सावधानी बरतनी होगी, जिससे सूचना प्रौद्योगिकी के आविष्कारों से हम भाषा को नित नवीन रूप प्रदान करते हुए भाषा को जिन्दा रखें। हम केवल मशीनी प्रयोक्ता बनकर न रह जायें बल्कि विकास के विविध आयामों का प्रयोग अपनी पारम्परिक गरिमा को ध्यान में रखकर करें तभी हिन्दी भाषा के प्रति हमारा सच्चा कर्त्तव्य निर्वहन होगा।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 07697425313

सन्दर्भ :

1. सूचना प्रौद्योगिकी और जन माध्यम, प्रो. हरिमोहन, पृष्ठ 40।
2.‘भाषा, विचार और वास्तविकता (बैंजामिन ली व्होर्फ की रचनाओं का संकलन), सम्पादक : जानबी कैरोल, अनुवादक- डॉ. रामविलास शर्मा, हरियाणा साहित्य ग्रन्थ अकादमी, चण्डीगढ़, 1990, पृष्ठ 165, द्वितीय संस्करण।
3. भाषा और समाज, डॉ. रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1977, पृ. 406।
4. वाक्- (पत्रिका) सम्पादक- सुधीश पचौरी, वर्ष 2007, अंक 3, पृष्ठ 86 से उद्धृत।
5. वही, पृष्ठ 110 से उद्धृत।
6. वही, पृष्ठ 19 से उद्धृत।
7. भाषा विज्ञान की भूमिका, देवेन्द्रनाथ शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण- 2009 पृष्ठ 31।

हिन्दी दलित कवि और उनकी कविताएँ

अरविन्द कुमार

दलित-साहित्य की चर्चा ने पिछले कुछ वर्षों से अधिक जोर पकड़ लिया है। दलित लेखकों ने आत्मकथा, कहानी, उपन्यास के अलावा अपने जीवन के यथार्थ को कविताओं में भी पिरोने का प्रयास किया है। ''पिछले कुछ दशकों में जो अस्मिता बोध जागा है, दलित साहित्य उसी अस्मिता बोध की उपज है। और दलित कविता इसी उपज की एक वैरायटी। दलित लेखन व्यापक परिवर्तनकारी उद्देश्यों को लेकर चल रहा है। दलित लेखन जहाँ एक ओर समाज में सकारात्मक परिवर्तन करके समतामूलक समाज की स्थापना करना चाहता है वहीं वह वर्चस्ववादी, उत्पीड़नकारी संस्कृति और मूल्यव्यवस्था को भी समाप्त करना चाहता है। एक ऐसे समाज की संकल्पना को भी समाप्त करना चाहता है। यह एक ऐसे समाज की संकल्पना का पक्षधर है, जिसमें कोई किसी का शोषण न करे। किसी विशेष जाति को ही 'योग्यता' का आधार न माना जाये। जाति, वर्ग, लिंग, रंग और धर्म के आधार पर कोई भेद-भाव न हो। इन्हीं सब उद्देश्यों की पूर्ति हेतु दलित साहित्य लेखन निरंतर प्रयासरत् है।''[1] दलित जनता के अतीत की अनुभूतियों का राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं वैचारिक स्वरूप ही दलित-विमर्श है। अतीत में शूद्र कही जाने वाली निम्नवर्गीय जनता आधुनिक अवधारणा में दलित कही जाने लगी है। शूद्र से दलित तक पहुँचने में इसे खून को जलाकर पसीना बनाना पड़ा है। दलित जनता का जितना अधिक पसीना बहा है सवर्ण जनता का खजाना उतना ही अधिक भरा है। ब्राह्मण एवं स्मृतियों के अस्तित्व में आने के बाद से हिन्दू धर्म एवं संस्कृति में विकार की धारा बह निकली, धर्म आधारित भारत की जनता केवल अमीर और गरीब के खाँचे में नहीं, बल्कि वर्ण एवं जाति के टुकड़ों में बँट गयी, यानी कि उच्च वर्ग, निम्न वर्ग एवं निम्नतर की परिभाषा भारत की संस्कृति बन गयी जिसको हम गौरवमयी संस्कृति के रूप में सराहते हुए नहीं थकते। कारण, यह कलुषित संस्कृति धीरे-धीरे यहाँ की जनता का संस्कार बन गयी। इस संस्कार के मूल में उच्च वर्ग द्वारा निम्न और निम्नतर जनता का शोषण, उनके अन्दर भय, इससे भी अधिक सम्पूर्ण कलुषित संस्कार को धर्म एवं ईश्वर के हवाले से उनके मानसिक पटल पर अंकित कर दिया गया। डरी, सहमी निरीह जनता उसको अपना भाग्य और नसीब समझकर सदियों तक कराहती रही।[2]

प्रगतिवादी दलित कवि हीरा डोम उसी कालखंड में ईश्वर को कटघरे में खड़ा कर रहे

थे। वे पूछ रहे थे कि खम्भा फाड़कर प्रहलाद को बचाने वाला, मगरमच्छ के मुँह से गजराज को बचाने वाला, दुर्योधन से द्रोपदी की लाज बचाने वाला और कनकी अंगुली पर पर्वत उठाने वाला भगवान अछूतों की क्यों नहीं सुनता? क्या वह भी डोम जान उन्हें छूने से डरता है, यथा-

खंभवा के फारि पहलाद के बचवले जा,
ग्रह के मुहें से गजराज के बचवले।
धोती जुरजोधना के भैया छोरत रहै,
परगट होके तहाँ कपड़ा बड़वले।
कहवाँ सुतल वाहे सुनत न वाहे अब,
डोम जीवन हमनी के हुए से डेरइले।[3]

हीरा डोम ने दलित जीवन की पीड़ा का जैसा मार्मिक चित्रण किया है, वह उस समय की भद्र कविता में नहीं मिलता। निश्चय ही स्व-अनुभूति और स्व-पीड़ा की अभिव्यक्ति कविता है। हिन्दी के भद्र कवि जिस समाज और वर्ग से आते थे, वह विशेषाधिकार प्राप्त समाज था और शासक वर्ग था। उनके समाज उन दुःखों से मुक्त थे जिनसे दलित समाज ग्रस्त था। दुःख मुक्त समाज के ये कवि मस्त थे और सौन्दर्य के उपासक थे। कविता करना उनका शौक था इसलिए वे कलावादी थे। इसके विपरीत शोषित और बहिष्कृत समाज से आये दलित कवियों के लिए कविता शौक न थी, अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति का साधन थी। समाज और प्रकृति को देखने का उनका नजरिया कलावादी नहीं था, प्रगतिवादी था। उनके सामाजिक सरोकार दलित समस्या को मानवीय धरातल पर देखते थे। उनके लिए कविता एक मकसद थी, एक मिशन थी। और वह भी उस व्यवस्था के ख़िलाफ, विद्रोह, जो दलित नारकीय थी।

अछूतानन्द 'हरिहर' उपनाम से कविताएँ लिखते थे। मनुस्मृति पर उनकी इस कविता में दलित पीड़ा मानवीय संवेदना के रूप में प्रकट होती है-

निसदिन मनुस्मृति ये हमको जला रही है।
ऊपर न उठने देती नीचे गिरा रही है।।
हमको बिना मजूरी, बैलों के संग जोते,
गाली व मार उस पर हमको दिला रही है।
लेते बेगार खाना तक पेट भर न देते,
बच्चे तड़पते भूखे, क्या जुल्म ढा रही है।
ऐ हिन्दू कौम सुन ले, तेरा भला न होगा
हम बेकसों को 'हरिहर' सुन ले, तेरा गर तू रूला रही है।[4]

दरअसल दलित कवियों की भूमिका सिर्फ वर्ण-व्यवस्था और मनुस्मृति के विरोध तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उनका मकसद एक नये विमर्श को स्थापित करना था। दलित कविता एक ऐसे दलित-विमर्श से जुड़ी थी, जो वैज्ञानिक और लोकतांत्रिक था। उसने न सिर्फ

लोकतांत्रिक दृष्टि से दलित अधिकार का प्रश्न उठाया, बल्कि जन्म पर आधारित वर्ण और जाति भेद का वैज्ञानिक खण्डन भी किया, दलित कवि नये ढंग से अपनी बात कहते थे और वह दलितों को सम्बोधित करते थे। अछूतानन्द की परम्परा में दलित कवि केवलानन्द ने वर्णव्यवस्था का बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से खण्डन करते हुए यह कविता लिखी

ब्राह्मण कहते मुख से पैदा मुक्ख फार फिर आये क्यों ना।
क्षत्री कहते भुजा से पैदा भुजा फार फिर आये क्यों ना।।
बनियाँ कहते उदर से पैदा टूंडी में भिल्ल बनाये क्यों ना।
चारों वरण। भग द्वारे ही आये कहने में शरमाये क्यों ना।[5]

प्रगतिवादी दलित कवि ऐसे कवियों को फटकार रहे थे। दलित कवि बिहारीलाल हरित की कविता में यह फटकार स्पष्ट रूप से दिखाई देती है

करके खुदी को दूर खुद मजबूत बन के देख।
दो चार-दिन के वास्ते अछूत बन के देख।
सिर पर जरा रख टोकरा मैले का टपकता।
गन्दगी में बढ़ जरा मल मूत बन के देख।।[6]

दलित कविता ऐसे काव्य विवेक से उपजी कविता है जो सामाजिक यथार्थ के आलोक में सामाजिक परिवर्तन के स्वप्न बुनती है। व्यापक सरोकारों से जुड़ी यह कविता सजीव एवं आवयविक अनुभवों को अत्यन्त सहजता और धैर्य से अपने आशयों को सामने लाती है। दलित कविता में शब्दों के द्वारा भावों को प्रकट करने के साथ अपने आशय को भी प्रकट किया जाता है। दलित जीवन के संघर्ष, जिसमें सामाजिक, आर्थिक धरातल पर झेले जा रहे यथार्थ के साथ-साथ मानसिक उत्पीड़न से मुक्त होने के लिए किया गया चिंतन-मनन भी है। दलित लेखक की फटकार जायज है। यह फटकार हरपाल सिंह 'अरुष' की कविता में दिखती है

गू की छीतर उठाकर देख
मुझको गले लगा कर देख
तेरा जूठा मैं खाता
मेरा जूठा खाकर देख।[7]

प्रगतिवादी दलित कवि समाज में मानवतावाद स्थापित करने के उद्देश्य से कविता करता है। दलित कविता का मूल उद्देश्य है जिओ और जीने दो। सम्मान से, एकता से, मानवीयता से, अपनत्व से, समानता से समाज में वास करें। दलित कवि ने मानव को दृष्टि कविता का केन्द्र माना है। दलित कविता सामान्य मानव से संबंधित है। दलित कवि असमानता को तोड़कर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहता है, जो सामान्य जनता की परेशानियों को दूर करे। समस्त जनता अपनत्व से व्यवहार करे, बैरत्व मिटे, जातीयता घटे, कहकर हिन्दी के दलित कवि लक्ष्मी नारायण सुधाकर कहते हैं

मिट जायें रूढ़ियाँ दुःखदायी हो धर्म क्रान्ति फिर भारत में।
मानव-मानव प्रेम करें, फैले न भ्रान्ति फिर भारत में,।
कर्त्तव्यपरायण हो, सब ही, सर्वत्र शान्ति हो भारत में,।
मिथ्या आचार-विचारों का, खलराज न हो फिर भारत में।[8]

कवि मानव-मानव में प्रेम फैलाकर समानता का उद्देश्य देना चाहता है। भारत देश में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने की अपील करता है। देश के भविष्य के प्रति चिन्ता व्यक्त करता है, जातिवाद के कारण कहीं फिर से भारत में खलराज न हो।

आधुनिक काल में प्रगतिवादी दलित कवि कँवल भारती, श्यौराज सिंह बैचैन, ओमप्रकाश बाल्मीकि, मलखान सिंह, डॉ. जयप्रकाश कर्दम, डॉ. एन. सिंह, सूरज पाल चौहार, डॉ. कालीचरण स्नेही, प्रगतिवादी दलित कवयित्री निर्मला पुतुल, रजनी अनुरागी, पूनम तुषामड़, नीरा परमार, रजनी तीलक, सुशीला टका भौरे, कुसुम मेघवाल तथा कुंती सभी दलित लेखकों का चिंतन है कि समता मूलक समाज का निर्माण हो।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 07697421950

सन्दर्भ :

1. *भारतीय दलित साहित्य का विद्रोही स्वर, विमल थोरात, सूरज बड़त्या, भारतीय दलित अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली, पृ. सं. प्रस्तावना से।*
2. *अनिस पत्रिका (जुलाई 2011-जून 2012) संपादक विपिन कुमार, बी.एच.यू. वाराणसी पृ. सं. 1 ।*
3. *दलित निर्वाचित कविताएँ, संपादक कंवल भारती, प्रकाशक, इतिहास बोध प्रकाशन, बी. 239, चन्द्रशेखर आजाद नगर इलाहाबाद, संस्करण प्रथम 2006, पृ. स. 13 ।*
4. *वही पृ. सं. 15 ।*
5. *वही पृ. सं. 16 ।*
6. *दलित विमर्श और हिन्दी दलित काव्य-काली चरण स्नेही प्रकाशक, न्यू रायल बुक कम्पनी, बाल्मीकि मार्ग, लालबाग, लखनऊ, 2008 पृ. सं. 7 ।*
7. *वही पृ. सं. 61*
8. *दलित साहित्य वार्षिकी (पत्रिका) 2006, सं. डॉ. जयप्रकाश कर्दम, अकादमिक प्रतिभा, नई दिल्ली, पृ. सं. 47*

आधुनिकता और गाँधी की प्रासंगिकता

धनंजय वर्मा

मेरी चेतना पर तीस जनवरी की छाया मँडरा रही है : तीस जनवरी, जिस दिन पहली बार गाँधी की हत्या हुई थी और उसके बाद गाँधी की हत्याओं का एक लम्बा सिलसिला है।... इतिहास कहता है कि तीस जनवरी को एक पागल आदमी ने गाँधी की हत्या की थीलेकिन उसके बाद गाँधी की हत्याओं का एक क्रम चला। इस बार गाँधी का हत्यारा कोई एक व्यक्ति नहीं था। गाँधी को राजघाट पहुँचाकर ही लोगों ने दम नहीं लिया बल्कि अपार्थिव रूप में जहाँ-जहाँ भी गाँधी जीवित था या है, वहीं-वहीं इनका षड्यंत्र सक्रिय रहा है। साधारण आदमी तो एक बार मरकर मर जाता है लेकिन गाँधी...? ईसा को सूली पर टाँग कर ही लोगों ने दम नहीं लिया...पॉल' ने जीसस की शिक्षाओं को ही बदल दिया... और बुद्ध को तो देश से निकाल कर ही हमने चैन लिया।

हमारा देश महान् है। हम मौत की पूजा करते हैं और जीवन का तिरस्कार! इस मृत्युपूजक देश में हर प्रासंगिक और सार्थक व्यक्ति के जल्दी-से-जल्दी स्मारक खड़े कर, उसकी मूर्ति स्थापित कर दी जाती है और उसे पूजा की वेदी पर बिठा कर जीवन से अलगा दिया जाता है। सुबह-शाम या जब मौका मिले उसका नामोच्चार हो जाता है, और फिर अपनी राह, और अवसर की तलाश। गाँधी का उचित स्थान, पूजा की वेदी नहीं, जीवन की कर्मभूमि है। कर्म से बढ़कर कर्त्ता की यादगार और क्या हो सकती है?...हमने गाँधी को देवालयों में तो प्रतिष्ठित किया लेकिन जीवन से बहिष्कृत कर दिया।...

मेरी थोड़ी-सी भावुकता के लिए मुझे क्षमा करें। लेकिन मैं क्या करूँ? वास्तविकता जो मुझे उद्वेलित कर गई।

और आज सवाल पूछा जा रहा है कि वर्तमान समय में गाँधीवाद की सार्थकता क्या है? यानी गाँधीवाद की सार्थकता पर शंका होने लगी है। सवाल की क्या यह एक ध्वनि नहीं है कि बीते ज़माने में तो गाँधीवाद की सार्थकता थी, शायद भविष्य में भी कभी हो; लेकिन वर्तमान समय में भी क्या वह सार्थक है?... मुझे नेहरूजी की आत्मकथा के कुछ शब्द याद आ रहे हैं। गाँधीजी के विषय में वे कहते हैं :

''वे बहुत मुश्किल व्यक्ति थे, कभी-कभी तो उनकी भाषा एक औसत आधुनिक

आदमी की समझ के बाहर की होती थी।...अक्सर हम लोग आपस में उनकी सनक और विलक्षणताओं की चर्चा किया करते थे और मज़ाक में कहा करते थे कि स्वराज के बाद उनकी इन सनकों को कभी प्रोत्साहन न दिया जाय।''...

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय प्रतिभा और बुद्धिजीवी में यह भ्रम बढ़ते-बढ़ते, अब, विश्वास की शक्ल अख्तियार कर चुका है कि जो कुछ भारतीय है वह त्याज्य है, पिछड़ा हुआ है, अन-आधुनिक है।... मुझे कहने दीजिए कि 1947 में हमने राजनीतिक स्वतन्त्रता तो पाई लेकिन उसी दिन से हमारी मानसिक दासता का एक नया अध्याय शुरू हुआ। पहले रूढ़ि की गुलामी थी, अब आधुनिकता की भी रूढ़ियाँ बन गई हैं।

गाँधी ने जिस स्वदेशी ढंग की अर्थनीति, राजनीति और समाजनीति का प्रारूप हमारे सामने रखा और जिस स्वाभाविक ढंग से आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को विकसित और निर्देशित करने की चेष्टा की, वह आरोपित और आयातित आधुनिकता के मोह में हमें पिछड़ापन लगा। नेहरूजी के शब्द फिर याद आते हैं। वे कहते हैं :

''सैद्धान्तिक और वैचारिक दृष्टि से वे कभी-कभी अचम्भे की हद तक पिछड़े हुए थे।'' वे याने गाँधी।

...इस वाक्य से जिरह करने का मेरा मंशा नहीं हैं, मैं माने लेता हूँ कि गाँधी के सिद्धान्त पिछड़े हुए थे, मगर उसका कारण यही था कि वे इस पिछड़े देश की ज़मीन और आदमी से निकले थे, बने थे। उन्होंने देश को आगे बढ़ाने के लिए सिद्धान्तों का आयात नहीं किया न उन्हें उधार लिया।... संवाद की यह अनिवार्य शर्त है, आप उसे विवशता भी कह सकते हैं, कि यदि सामने वाला आपकी भाषा नहीं समझता तो आपको उसकी भाषा में ही उससे संवाद करना होगा और भाषा से मेरा मतलब कोरे शब्दों से नहीं है, अस्तित्व से जुड़े शब्दों से है। शब्द तो वायवीय हैं, उन्हें कोई नहीं समझता जब तक कि वे अस्तित्व से, व्यवहार से न जुड़े हों और गाँधी ने अपने देश के आदमी से उसकी भाषा में ही संवाद किया और सार्थक संवाद किया। ... आप इस देश के आदमी से संवाद करते हुए धर्म को नहीं भुला सकते, इतिहास की इबारत नहीं मिटा सकते। परम्परा को ठोकर नहीं लगा सकते। परम्परा का मतलब अतीत नहीं, अतीत की अनुभूति है जो निरन्तर विकासमय है, गतिशील है और इतिहास की शिक्षा ही इतिहास का सत्य हैऔर यदि धर्म गलत हाथों में चला गया है, गलत अर्थ ले चुका है तो उसे सही सन्दर्भ देकर ही आप भारतीय जन को, साधारण को अपने साथ ले चल सकते हैं, जिसके बिना कोई भी नेतृत्व कोरा दम्भ है, छलावा है और बेमानी है। और यहाँ धर्म से मेरा मतलब 'रिलीजन' नहीं है, धर्म ही है, जिसका अनुवाद किसी भी दूसरी भाषा में नहीं हो सकता। उसका अनुवाद केवल एक भाषा में हो सकता है वह है, जीवन, कर्म और व्यवहार। लेकिन शायद सदा से हमने यही किया है और अब तो हमारी आदत हो गई है कि शब्द को अस्तित्व से, आचार को विचार से, और व्यवहार को सिद्धान्त से अलग और बरखिलाफ रखा जाय।...वरना क्या कारण

है कि यह देश जो बापू का देश कहलाता है, जिसने यहाँ जातिविहीन, वर्गविहीन समाज का सपना देखा था, अपने धर्म-जाति-वर्ण-लिंग-निरपेक्ष लोक कल्याणकारी राज्य में अपने बच्चों से स्कूलों के प्रवेश में और युवकों को नौकरी की दरखास्तों में धर्म और जाति के कॉलम भरवाता है? जाति, सम्प्रदाय और मजहब को 'एक्सप्लायट' कर चुनाव लड़ता है और देश की धर्मभीरु जनता का इस्तेमाल करता है। 'वर्ग'-वार कॉलोनी बसाता है।

मैं बात आधुनिकीकरण की कर रहा था। आधुनिकता भी एक दौड़ है जिसमें सब अव्वल आना चाहते हैं। सभी आज इस भीड़ में शामिल हैं, दौड़-दौड़कर आधुनिकता का रंग-रोगन लगा लेने को चिंतित हैं कि कहीं पुराने न घोषित कर दिये जायँ। मुश्किल तो यह है कि जो भारतीयता को दकियानूस समझते हैं, उसके विश्वासों और मान्यताओं, मूल्यों और प्रतिमानों को अन-आधुनिक मानते हैं और शायद इसीलिए गाँधी के सत्याग्रह और अहिंसा आदि को भी पिछड़ेपन के खाते में टाँकना चाहते हैं, वही यूरोप और अमरीका की हर बकवास को आधुनिकता का ज़रूरी जुज़ मानते हैं और ऐसी अन्धश्रद्धा से उनका अनुसरण करते हैं कि कोई पोंगपंथी भी किसी शालिग्राम से क्या माथा रगड़ेगा। हम चाहे गाँधी पर चर्चा करें या सार्त्र-कामू या काफ्का पर, जब तक इस दिमागी गुलामी से छुट्टी नहीं मिलती है तब तक हमारी सारी आधुनिकता ऊपरी है, फैशन है।

आधुनिकता और आधुनिकीकरण सुविधा की चीजें नहीं हैं और न वेश-भूषा हैं। वह स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया है और हमारा समग्र व्यक्तित्व और प्रकृति उसके रूपान्तरण से जुड़ी है। वह देश-काल से नियमित और शासित होती है। इस सत्य की जितनी गहरी चेतना गाँधी में थी उतनी शायद और किसी में नहीं। नेहरू-युग, आधुनिकता के प्रति मोहाविष्टता का युग रहा है। वह यूरोप और अमरीका की आधुनिकता के प्रति अभिभूत मानसिकता का युग रहा है; लेकिन गाँधी ने आधुनिकीकरण और आधुनिक को समाज वैज्ञानिक सन्दर्भ दिया था। उसे केवल चिन्तन का प्रत्यय नहीं बनाया, जीवन का मुहावरा दिया।

नेहरू समर्पण की आधुनिकता में विश्वास करते नज़र आते हैं, गाँधी चुनौती की आधुनिकता में। उनकी चेष्टा आधुनिकता का विकास करने की थी न कि उसका आयात या अनुकरण करने की, वे कहते हैंः

''पश्चिमी सभ्यता के प्रति मेरा प्रतिरोध दरअसल उसके अविवेकपूर्ण और विचारहीन अनुकरण का प्रतिरोध है। यह अनुकरण इस अनुमान पर आधारित है कि एशियावासी पश्चिम से आने वाली हर चीज की नकल करने के काबिल हैं।''

विचार और विवेक-चुनाव की स्वतन्त्रता देते हैं, और जब तक चुनाव की स्वतन्त्रता नहीं है कोई भी स्वतन्त्रता झूठी है। जब गाँधी कहते हैं :

''हम लोग एक ग्रामीण सभ्यता के वारिस हैं, हमारे देश का विस्तार, जन-संख्या की विपुलता, देश की जलवायु और स्थिति को देखते हुए, मेरे विचार से, एक ग्रामीण सभ्यता

उसकी नियति है।...'' ग्रामीण सभ्यता को नियति आप चाहे न मानें लेकिन क्या इस बात को विदेश-विद्वेष या पुरातनता का मोह कहेंगे या अतीत-गौरव का स्फीत अहं। यह स्थिति का सीधा साक्षात्कार है, यथार्थ की सहज स्वीकृति है। इसे भूलकर हमने जिस तेजी और अनियोजित और अस्वाभाविक ढंग से शहरीकरण और औद्योगिकीकरण किया है, उसने न केवल आधुनिकीकरण को अस्त-व्यस्त किया है, बल्कि हमारी सारी चेतना और सम्वेदना में संकट पैदा कर दिया है। आप गौर करें तो मूल्यों का यह संकट और ह्रास और युवा पीढ़ी का यह सारा मोहभंग और आक्रोश इसी अस्वाभाविकता और अस्तव्यस्तता का परिणाम है। मूल्य-चेतना जीवन के साथ विकास करती है और विकास का मतलब परिवर्तन तो हो सकता है, असम्बद्ध और आकस्मिक स्थानान्तरण नहीं। उसका मतलब आरोपण और बलात् थोपना तो कतई नहीं है। आप कह सकते हैं कि क्रान्तियाँ तो असम्बद्ध और आकस्मिक ही होती हैं; तो मेरा निवेदन है कि क्रान्तियाँ असम्बद्ध और आकस्मिक लगती ज़रूर हैं, होती नहीं हैं। उनके बहुत सारे कारण धीरे-धीरे जमा होते रहते हैं। कहीं हमारी दृष्टि से ओझल, कहीं हमसे सीधे टकराते हुए और फिर एक दिन उभर पड़ते हैंज्वालामुखियों की प्रक्रिया से तो आप सब वाकिफ हैं ही।
...आप इस बात को स्वीकार न भी करें तो एक बात पर गौर ज़रूर करें कि ऐसी क्रान्तियाँ कितनी स्थायी होती हैं, उनका प्रभाव, उनकी सिद्धि क्या होती है? फ्रान्स, अपनी राज्य क्रान्ति के इतने लम्बे अन्तराल के बाद भी स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व को सिद्ध कर पाया क्या? मेरा मतलब क्रान्ति की आवश्यकता और उपयोगिता पर प्रश्न-चिह्न लगाना नहीं है वरन् क्रान्ति की बायलॉजी को समझना है और गाँधी ने क्रान्ति की नीति ही नहीं दी उसकी जैविकी को भी समझने-समझाने की कोशिश की है। सत्याग्रह और अहिंसा-क्रान्ति का नीतिशास्त्र ही नहीं, क्रान्ति की जैविकी भी है।... उनसे हमारा मतभेद हो सकता है; उनके कार्यक्रम में भी काफी रद्दोबदल की गुंजाइश है लेकिन उसके इरादों और नीयत पर शक की गुंजाइश नहीं है।

ज़रा गौर कीजिए कि क्यों गाँधी ने कहा था कि

''भारतीय अर्थशास्त्र पर विचार गाँवों की दृष्टि से किया गया हो, उसमें खेती और उद्योग का परस्पर निकट सम्बन्ध हो। दोनों सामान्य रूप से एक ही छप्पर के नीचे रह सकते हों।''

और उन्होंने नीतिधर्म की बातें भी कहीं हैं, जिन्हें मैं फिलहाल छोड़ता हूँ क्योंकि आधुनिकतावादियों को इनसे परहेज हैतो मैं अपनी छोटी-सी बुद्धि से जो समझ पाया हूँ, वह यही कि गाँव और खेत और उद्योग के परस्पर सम्बन्ध की बात गाँधी ने इसीलिए नहीं कही थी कि वे प्रगति का चक्र रोककर पीछे ले जाना चाहते थे, या देश का आधुनिकीकरण नहीं चाहते थे, वरन् इसीलिए कि यूरोप और अमरीका का आदर्श मानकर और बिना उसके आधुनिकीकरण की पूरी प्रक्रिया को समझे, यदि हमने 'बिगलीप' लिया तो कहीं ऐसा न हो कि हम मुँह के बल गिरें।...

आप मानें या न मानें आधुनिकीकरण की दौड़ और कूद में जल्द-से-जल्द अव्वल आने की बेताबी में हमारा यही हश्र हुआ। हम मुँह के बल गिरे हैं और धूल चाट रहे हैं।...आप पश्चिमी आधुनिकीकरण को बेमिसाल मानते हैं; मैं उसी की मिसाल देता हूँ। पश्चिम ने गाँवों को शहर की ओर ले जाने में तुग़लक का पैटर्न नहीं अपनाया। उसने गाँवों का रूपान्तरण किया और उसका शहरीकरण या औद्योगिकरण चरणों में हुआ, किस्तों में हुआ, स्वाभाविक गति से हुआ; और ग्राम से शहर की शिफ्ट की स्वरलिपियाँ हार्डी से इलीयट तक यात्रा में मिल जायेंगी लेकिन इसको भूलकर हमने गाँवों को उठा-उठाकर शहरों (और शहर भी कैसे ठेठ न्यूयार्क और लन्दन की टू कॉपी) में रखने की कोशिश की और परिणाम हुआ कि गाँव तो उखड़े ही शहर भी न बस सके न खुदा ही मिला, न विसाले सनम, न घर के रहे न घाट के, दोनों दीन से गये। न पुराने मूल्य बचे न नये विकसित हुए। आप गौर कीजिए, ये गाँव और शहर केवल रहन-सहन से नहीं जुड़े। ये मूल्यदृष्टि से भी जुड़ते हैं, खेती और उद्योग जीवनयापन के साधन ही नहीं हैं, संस्कृति और मूल्य-पद्धति के प्रतीक भी हैं और कोई भी संस्कृति अपने केन्द्र को भूलकर शून्य में छलाँग नहीं लगातीवह विकास करती है। एक पैर खड़ा रहता है, तभी दूसरा चलने के लिए उठता है।

गाँव और शहर के बीच इस संशय और दुविधा, संकट और अस्त-व्यस्तता का सीधा असर, मूल्य संक्रान्ति और विघटन, मूल्यहीनता और केऑस है।...

कुछ लोग इसे चारित्रिक शून्य कहते हैं। भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता, आक्रोश, दिशाहीनता आदि को वे आदर्शविहीनता और चरित्रह्रास कहकर छुट्टी पा लेते हैं; लेकिन आदर्शविहीनता और चारित्रिक शून्य रोग के लक्षण हैं, स्वयं रोग नहीं।...मुझे कोई समझाए कि चरित्र, क्या शून्य में बन जाता है? आदर्श क्या हवा में खड़े हो जाते हैं? क्या उनका ज़िन्दगी की रोजमर्रा ज़रूरतों और दबावों से कुछ भी लेना-देना नहीं है? चरित्र और नैतिकता रगो-रेशों से ज़िन्दगी के 'अर्थ' और 'आर्थिकता' से जुड़े हैं। आर्थिक आधार हटाकर चरित्रबल और नैतिकता नहीं पाये जा सकते। भूखे, असन्तुष्ट और विपन्न को आदर्श पढ़ाना आदर्श का ही नहीं, उसका भी अपमान है।...

गाँधी का चरखा, खादी और ग्रामोद्योग न्यूनतम आर्थिक आधार देने की वह कोशिश थी जिसके चलते हमारे पाँव के नीचे से ज़मीन न सरकती और हम आधुनिकीकरण के 'टेक ऑफ' की तैयारी कर सकते थे; लेकिनऔद्योगिकीकरण की दौड़ में देखते-देखते यूरोप और अमरीका के समकक्ष आने की बेताबी में जो कर्ज की मय हमने पी, उसकी फाकामस्ती को रंग लाते, हम अब देख रहे हैं। उससे हमारा आर्थिक ढाँचा ही नहीं चरमराया वरन् एक ऐसी व्यवस्था के हाथ निरन्तर मजबूत हुए हैं जिसके रहते हुए न तो स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र का अर्थ है और न समानता और बन्धुत्व का।

उसने देश की योजना और निर्माण में युवावर्ग के पार्टीसिपेशन की सम्भावना भी निरन्तर

धुँधली की है। युवा-पीढ़ी का असन्तोष और विक्षोभ इसी आर्थिक असुरक्षा, सामाजिक असन्तुलन और सांस्कृतिक संकट का परिणाम है और जो वह अचानक हिंसात्मक और आक्रामक हो जाता है उसका कारण यह नहीं है कि वह दिशाहीन विद्रोह और अराजकता को पसन्द करता है, उसका मूल कारण यह है कि इन वर्षों में देश का सारा नेतृत्व निरन्तर बेअसर और हास्यास्पद होता गया है। उसने नेतृत्व की साधारण-से-साधारण और न्यूनतम ज़रूरतों और शर्तों को भी पूरा नहीं किया है। न उसे भारतीय जनमानस की सही समझ है, न देश या राष्ट्र की चिन्ता। वह तो जातियों, प्रान्तों, भाषाओं और स्थानीय स्वार्थों में मग्न है। गाँधीवाद का तर्जुमा उसने अवसरवाद किया है और अहिंसा को अपनी निष्क्रियता का कवच बना लिया है।...

आज गाँधी की आवाज भटक रही है : ''यदि गाँधीवाद का मतलब कोई भ्रम है तो उसे खत्म हो जाने दो। यदि गाँधीवाद साम्प्रदायिकता का दूसरा नाम है तो वह समाप्त हो जाने योग्य है...कोई भी यह न कहे कि वह गाँधी का अनुयायी है।'' यह आवाज किसी चिड़चिड़ाहट में नहीं निकली थी; बल्कि एक चुनौती और चेतावनी थी। लुई फिशर ने ''जीसस की शिक्षाओं को पाल ने बदल दिया'' के सन्दर्भ में जब अपनी शंका गाँधी के सामने रखी थी 'क्या आपके बाद भी लोग यही करेंगे?'' तब गाँधी ने कहा था : ''इस सम्भावना का जिक्र करने वाले आप पहले व्यक्ति नहीं है।... मैं इनके पार देख सकता हूँ।...हाँ, मैं जानता हूँ, उनकी कोशिश यही होगी'',...मैं गाँधी के इस स्वर को आगे बढ़ाने की अनुमति चाहता हूँहाँ बापू, तुम्हारे अनुयायियों ने तुम्हारे सिद्धान्तों को बदल दिया है, पूरी तरह बदल दिया है। आज गाँधी मजबूरी है और विद्यार्थी गाँधी डिवीजन में पास होकर ही अपनी बला टाल लेता है।

''नैतिक अशुद्धि का विषाक्त वाष्प आज हमारे स्कूली बच्चों में फैल चुका है और एक गुप्त महामारी की तरह उनमें तबाही बरपा रहा है''यह बात गाँधी ने सन् 1929 में कही थी। वह कल जितनी सच थी, उतनी ही आज भी सही है, बल्कि ज़्यादा सही है। लेकिन इसके लिए जिम्मेदार कौन है? क्या अब भी बताने की ज़रूरत है?...मेरी मंशा भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता, दिशाहीनता आदि का औचित्य सिद्ध करना नहीं है, वरन् उसके कारणों का विश्लेषण है और जब हम कारणों और स्थितियों का जायजा लेते हैं तो युवावर्ग का असन्तोष और विक्षोभ, आक्रोश और विद्रोह उसकी तार्किक परिणति लगता है। आखिर गाँधी ने ही तो कहा था, 'न्यायोचित उद्देश्य कि लिए विद्रोह एक कर्त्तव्य है और किए गए अन्याय के अनुपात पर ही प्रतिरोध की मात्रा निर्भर करती है''ज़रूरत उस असन्तोष और विक्षोभ, आक्रोश और विद्रोह को एक सार्थक दिशा देने की है, सत्याग्रह और दुराग्रह में फर्क करने की है। अहिंसा, निष्क्रियता और कमजोरी की ढाल नहीं, वह एक शक्तिशाली का अस्त्र है। वह एक सैद्धान्तिक विचार ही नहीं, एक व्यावहारिक कार्यक्रम भी हैवह युद्ध का नैतिक स्थानापन्न है और उसकी कीमत पर तो गाँधी ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता भी गवारा नहीं की। कायरता और हिंसा में यदि चुनाव करना

हो तो गाँधी ने हिंसा के चुनाव की आवाज दी थी। यह गाँधी का क्रान्ति-दर्शन है। यह उनकी बुनियादी क्रान्ति है। और क्रान्ति, लगातार और संवरित प्रयासों की शृंखला है। वह किसी एक बिन्दु पर रुक नहीं जाती।

पहले इन अस्त्रों से जो कामयाबी हासिल हुई उसका एक कारण यह भी था कि दुश्मन आमने-सामने था। लुटेरा ज़रूर था, मगर सभ्य था। आज जिस दुश्मन से टक्कर है वह ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में छिपा बैठा है जो असभ्य भी है और बर्बर भी, और फिर वह अदृश्य है। उसकी कोशिश है कि विद्रोह अपनी सार्थक दिशा से लगातार भटकता रहे। अमूर्त बहस में बदलकर फैशन बन जाय, अधिक-से-अधिक साम्प्रदायिक चेहरा लेकर आत्मघाती रवैया अख्तियार कर ले या फिर तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों में बिखर जाय।

काश! गाँधी के क्रान्ति-दर्शन की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल व्याख्या कर उसे आज का सन्दर्भ देने वाला कोई होता।...मगर दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ। गाँधी की हत्या के बाद हम लगातार गाँधीवाद की हत्या में लगे हैं।...

द्वारा-डॉ. निवेदिता वर्मा
एफ 2/31, आवासीय परिसर,
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन-456010
मो. 9425019863

"हिन्दी उस भाषा का नाम है, जिसे हिन्दू और मुसलमान कुदरती तौर पर बगैर प्रयत्न के बोलते हैं। हिन्दुस्तानी और उर्दू में कोई अंतर नहीं है। देवनागरी में लिखी जाने पर वह हिन्दी और फारसी में लिखे जाने पर उर्दू हो जाती है।"

महात्मा गाँधी

सागर : मेरा सागर

सुरेश आचार्य

बुन्देलखण्ड में सारा बचपन बीता। कैशोर्य और यौवन गुज़ार कर अब प्रौढ़ावस्था के दरवाजे आ खड़ा हुआ है। इक्कीसवीं शताब्दी के शुभारंभ में बुन्देलखण्ड के लोगों के पास रुपया बढ़ रहा है, सोना, समृद्धि और सुख बढ़ रहा है और बढ़ रहा है वैमनस्य और टुच्चापन। बुन्देलखण्ड की भाईचारे की परम्परायें चरमरा रही हैं - सहिष्णु शौर्य गायब हो रहा है। तेज रफ्तार, प्रगतिशीलता के विभिन्न गतिशील वाहनों में बैठे हम सब एक अंधी दौड़ में शामिल हो गये हैं। हम सबसे आगे निकल जाना चाहते हैं आगे, और आगे खूब आगे। जो पीछे रह गया है, उसे हम भूल जाना चाहते हैं, छोड़ देना चाहते हैं। मैं स्मृति को पीछे ले जाना चाहता हूँ खूब पीछे बचपन की ओर। काशटाइम मशीन की कल्पना सच होती तब तो मजा ही आ जाता खैर - चलिए पीछे और पीछे खूब पीछे।

बुन्देली संस्कृति और शौर्य के सुने हुए किस्से और आँखों देखी घटनायें झम्मक-झम करती हुई मेरे सामने से गुजरती हैं। मुहर्रम का हल्ला मचा है मुहल्ले में। अम्मा सबेरे से कह देती हैं - बेटा, जरा ख्याल रखना। ताजिये निकलें तो भैया को उनके नीचे से निकालना है। रोग-दोष दूर हो जाते हैं। हमारा ब्राह्मण परिवार पिताजी कट्टर शैव हैं। मिट्टी के शिवलिंग बनाकर पूजे बिना पानी नहीं पीते। सुबह पाँच बजे ही मुहल्ला उनके गुरु गंभीर कण्ठ से गूँज उठता है। जटाजवी गलज्जलज्प्रवाह पावित स्थले - उनके हम सारे बच्चे ताजियेदारी में मगन हैं। मुहर्रम की पाँचवीं तारीख को अलम उठते हैं। हाथ ठेलों पर रंग बिरंगी चादरों का भव्य और शानदार चंदोबा। उस पर पीछे से झाँकती साटन की हरी चादर की पृष्ठभूमि खिल उठती। दफ्ती के बने पंजों पर लेई से सफेद चमकदार चिलकनी चिपकाई जाती और सामने चलने वाले गैस के हंडों की रोशनी में वे चाँदी की तरह चमक उठते। अलम के आगे-आगे ढोल-ताशों की गड़गड़ ध्वनि और उसके साथ अखाड़े वालों का जुलूस होता। ढाल, तस्वीरें, भाले और शमशीरें चमकाते नौजवान लड़के और पीछे-पीछे लाठी हाथ में थामें चिल्लर फौज चलती। मुखिया जोर से आवाज उठाता - नाना ऽ ए ऽतकबीर - और हम गला फाड़कर चिल्लाते - अल्लाऽहोऽअकबर। ताज़ियेदारी की जगहों पर खिचड़ा बँटता और कामनाएँ पूर्ण होने पर लोग मिन्नतों के मुताबिक मुहर्रम की पाँचवीं, सातवीं, नवीं या मुहर्रम के रोज खिचड़ा बँटवाते। एक हाथ ठेले पर बड़ा

देग चलता जिसमें दस-बारह के दो बच्चे चाहें तो मजे से बैठ जायें इतना बड़ा देग -खिचड़े के लिए भीषण चिल्ल-पों मचती । आपस में उठा पठक और तमाचेबाजी तक हो जाती। इस तमाचेबाजी में भी एक स्वाद था, खिचड़े के स्वाद की क्या कहें? अभी तक भुलाये नहीं भूलता।

अखाड़े बीच-बीच में रुक कर जौहर दिखाते। शनीचरी के बड़े तकिया अखाड़े के शफी भैया लाठी भाँजते तो मजमा लग जाता। मजाल है - फेंका हुआ कंकर उन्हें लग जाये। लाठी से टकराकर उचट जाता था। इसी तकिये के कंबलशाह फकीर जो जंजीरवाले बाबा कहलाते थे, शेर बनकर अलम के आगे चलते, नाचते हुए। उनके जिस्म पर दो-ढाई मन वजन की लोहे की सांकलें बारहों महीने पड़ी रहती थीं। इतना लोहा लादकर ही वे भीख मांगने निकलते थे। मुहर्रम में शेर बनते तो भी यह वजन लटकाये हुए वे मगन मन नाचते। मुहर्रम की नौवीं तारीख को पीली कोठी से हजरत दाऊद मक्की चिश्ती रहमतउल्लाअलैह की सवारी उठती और हाल आते तहसीली के जयराम यादव पर। जयराम पहलवान नेज़ा पकड़ते और उनके इर्द-गिर्द बड़े-बड़े मियाँ लोग रहबर बनकर सैय्यद-सैय्यद करते हुए चलते। हम लोग सवारी रोक लेते और परीक्षा में पास होने की मिन्नतें करते। नेज़े पर टंगी मालाओं में से एक फूल नोचकर हमारे हाथों में थमाकर बाबा साहब आगे बढ़ जाते। मुहर्रम की दसवीं तारीख को ताजियों का जुलूस उठता। तीन बत्ती पर बड़े-बड़े ताजिए और बुर्राकें इकट्ठा होतीं। बुर्राक याने सफेद झिलमिलाती पन्नियों से बीन पंखवाली शानदार सफेद घोड़ी जिसका चेहरा स्त्री जैसा होता और पूँछ मोरपंखों से बनी होती। उस दिन फिज़ा में चारों तरफ 'हुस्सैल-हुस्सैल' के नारे होते। रेवड़ियाँ होतीं और हम गुटका खरीद कर घर लौटते। गुटके में सूखे मेवे और मिश्री के टुकड़े मिले होते।

फिर हफ्तों मुहर्रम की चर्चा बनी रहती। शफी भैया बताते कैसे एक बार कन्छेदी कसाई ने शेर नाचते हुए - बीच नमकमण्डी में बकरे को दाँतों से पकड़ा और शेर की तरह हवा में उछाल दिया था। अमीर पहलवान शेर नाचते और अखाड़ों के प्रदर्शन के समय सीप खेलते। 'सीप' ढाई फुट लम्बी दोनों तरफ धारवाली तलवार होती जिसे जबान पर रखकर खिलाड़ी हलक से नीचे उतार लेता। सिर्फ उसकी मूठ मुँह के बाहर झाँकती रहती। अनू पहलवान बनेटी घुमाते-लाठी को दोनों हाथों से बीच में पकड़कर। काली और मुहर्रम अमूमन साथ-साथ मनाये जाते। एक-दो दिन इस तरफ या उस तरफ। जितनी काली प्रतिमायें स्थापित होतीं-उतनी ही शेर टोलियाँ नाचती फिरतीं।

शेर नाचने वालों के शरीर पर काली और पीली रंगीन धारियाँ होतीं। वस्त्र के नाम पर सिर्फ रंगीन मखमली जांघिया। बाँहों में दोनों तरफ मुट्ठा भर मोर पंख बँधे रहते। कमर में एक बड़ी पूँछ बंधी रहती जिसके सिरे पर एक बड़ा और भारी झब्बा होता जैसे तबला बाँध दिया हो। सारी पूँछ रंग-बिरंगे कागजों और पन्नियों की कतरनों से सजाई जाती। शेर आगे-आगे नाचते पीछे-पीछे उनकी चमचमाती और झिलमिलाती पूँछ पकड़े एक न एक शागिर्द रहता। इसे भी लगभग नाचते हुए चलना पड़ता। जिनके घर के आगे ये शेर नाचने के लिये रुकते वे लोग

एक खप्पर अँगार लिये आते और उसे सड़क पर रखकर अँगारों पर लोभान और गंधक डालते। शेर बने लोग चकित चौपायों की मुद्रा में गंधक और लोभान के उठते धुएँ के इर्द गिर्द नाचते। ढोलक नगाड़ों की एक बिल्कुल अलग आवाज; तुरही की एक विशिष्ट ध्वनि के साथ होती और हम सारे बच्चे फिर महीनों शेर नाचते रहते। बाजों के अभाव में मुख से ध्वनियाँ निकालते-तिरीऽरीऽरीऽऽऽधनकद्ऽधड़ऽऽऽधनकद्ऽधड़ऽऽऽ।

दिन भर नाचने से थकान न हो इसलिये शेर लोग पौवा-अतवाई (पाव या आधा पाव) शुद्ध महुए की बनी देशी शराब डाँटते और त्यौहार में पूँछ पकड़ने वाले को पिलवाते। फिर होने दो धनक-धनकाऽ। एक बार तो ऐसा जलवा खिंचा कि एक शेर साहब ज्यादा पी गये और होश खोकर ऐसे नाचे, ऐसे नाचे की पूँछ जो थी कमर से छूट गई। पूँछ संभालने वाला शागिर्द खुद नशे में मस्त था। हालत ये हुई कि बिना पूँछ के शेर महोदय विजय टॉकीज के पास नाच रहे थे और उनसे एक फर्लांग पीछे कटरा मस्जिद के पास पूँछ पकड़े शागिर्द नाच में मस्त था। लोगों ने हस्तक्षेप किया और शेर साहब की पूँछ उन तक सादर पहुंचाई।

सप्तमी-अष्टमी और नवमी को रामदल निकलते। सारे सागर के अखाड़ों के खलीफा और नौजवान अनुशासनबद्ध फौजियों की तरह विधिवत ड्रेस जो आमतौर पर सफेद हाफ शर्ट और खाकी हाफ-पैंट होतीलगाकर हाथों में, ढाल-तलवार, भाले अथवा लाठी लिये मार्च करते। तिगड्डों पर रुककर वे अपने जौहर दिखाते। छत्रसाल अखाड़ा इनका नेतृत्व करता। गद्का-फड़ी की कला दिखाई जाती और पटा भांजने का अपूर्व प्रदर्शन होता। पटा-शमशीर की तरह लंबा किन्तु पतला लपलपाता दुधारा होता। जब खिलाड़ी उसे भाँजता तो हवा के कटने की आवाजें साफ-साफ सुनाई देतीं। लोग जमीन पर नीबू या लौंग खड़ी कर देते और खिलाड़ी पटा कर ऐसा हाथ भांजता कि वह उन्हें साफ दो टुकड़ों में बांट देता। तमाशबीन-पंचम जार्ज के चिन्हवाला एक पैसे का सिक्का धूल में खड़ा करते और पटा भाँजने वाले प्रेम पग्गल और हल्के बाढ़ई एक ही बार में उसके दो टुकड़े कर देते। रामदल के सैनिक गगनभेदी नारे लगाते हरऽ हरऽ और समवेत स्वर में जनता दुहराती - महादेवऽऽऽ । इस कमाल में यह शर्त रहती थी कि पटा जमीन को न छू पाये। ऐसा रियाज, ऐसी तपस्या और ऐसा निर्दोष प्रदर्शन होता कि लोग महीनों फ़न की बारीकी की दाद देते। रामदल छोटी मोटी सेना की तरह हो जाते यद्यपि इनका प्रदर्शन-पक्ष ही अधिक बलवान रहता था। हाथी, घोड़े, ऊँट आगे चलते और इन पर राजपूती मुद्रा में रंग बिरंगी शेरवानियों और साफों के साथ चूड़ीदार पायजामे पहिने भाला पकड़े, मूँछें ऐंठते पहलवान बैठते।

फिर जवारों का जोर होता। नवमी तिथि को देवी की सवारी निकलती। आगे आगे पंडा उपले पर आग, थाली में नीबू और गडुआ सहित पूजन की सामग्री लेकर चलता। उसके पीछे-पीछे भगत होतेवे मुँह में बाना छिद्वाते। बाना चार से दस फुट लंबा लोहे का एक तरफ सुई जैसा नुकीला और दूसरी ओर क्रमशः मोटा होता हुआ अस्त्र विशेष होता। हम लोग हैरत

से देखते कि भगत लोग अपने इस गाल से बनाना छिद्वाते और वह उनके मुँह के भीतर होता हुआ उस गाल को छेदकर बाहर निकलता। इसका दूसरा छोर एक आदमी पकड़े रहता फिर भगत लोग देवी के भाव में आकर नाचते। उनकी सुविधानुसार बाने का दूसरा छोर पकड़ने वाला संतुलन बनाये रखता। वह उनकी भाव मुद्राओं के साथ आगे-पीछे बढ़ता-हटता रहता। कुछ लोग नीचे से कीलें ठुकी हुई खड़ाऊँ पहनकर चलते। उन पैनी कीलों पर उन्हें चलते देखकर हम थर्रा जाते। वे अपनी पीठ पर कंटीला मारते जो लोहे के कांटों से बना चँवरनुमा झब्बा होता था। इस संपूर्ण प्रदर्शन के साथ-साथ भगतें गाने वाले चलते। ढोलक, झूला और मंजीरा बजाते हुए जोश में अक्षरशः दुहरे होते हुए वे मधुर स्वरों में गातेमाय जू के प्यारे हरदौल, बुन्देला राजा ऽऽऽ- लाड़ले हो माँ ऽऽऽ- हाँ बुन्देला राजा ऽऽऽ लाड़ले हो माँ ऽऽऽ। दशहरे में काली विसर्जन की धूमधाम होती। सारे सागर की काली प्रतिमायें कटरा मस्जिद के यहाँ इकट्ठी होतीं और उनका एक बड़ा जुलूस निकलता। बिजली की सजावट से चमचमाती हुई दुर्गा प्रतिमायें क्रमशः निकलतीं। उनके आगे-आगे भव्य जुलूस रहते। लड़के महीनों से इस दिन की प्रतीक्षा करते। जुलूस के मौकों पर उनका उत्साह देखते ही बनता। सारा सागर जोर से बोलोऽऽऽ - जै काली की ऽऽऽ के नारों से गूँज उठता। मरघट से मरई माता की एक अलग मूर्ति निकलती जो महामारियों को नियंत्रित करने वाली देवी मानी जाती थीं। सजी-धजी, भव्य, कृपालु और ममतामयी दुर्गा प्रतिमाओं के बाद सबसे अन्त में निकलतीं लुघरयाऊ काली। बुन्देली में लूघर का अर्थ होता है जलती हुई लकड़ी लुकाठा।

लुघरयाऊ काली के आने का हल्ला मचता तो मिनटों में सड़कें खाली हो जातीं। जलती हुई मशालें हाथों में लिये डेढ़-दो सौ नौजवान काली के आगे दो पंक्तियों में दौड़ते। इन मशालधारियों के बीचों-बीच डीजल की भरी हुई टंकियां चलतीं। हाथ ठेलों पर रखी हुई। एक आदमी टंकी पकड़े खड़ा रहता और चार-छः लोग हाथ ठेला धकेलते। टंकी पकड़ने वाला ही मशालचियों को डीजल की पूर्ति करता था। जिसकी मशाल बुझने लगती वह तुरंत दौड़ता और डीजल का एक मग उस मशाल में नयी रोशनी भर देता। मशाल जुलूस के अन्त में और काली प्रतिमा के ठीक पहले दोनों मशालधारी पंक्तियों के बीचों-बीच काले कपड़े पहने एक आदमी चलता। हर दस-पंद्रह गज की दूरी पर वह आदमी मिट्टी के तेल से भरे एक मग्गे को अपने मुंह में लगता और मुँह में मिट्टी का तेल भर लेता। फिर दोनों पंक्तियों के बीचों-बीच ऊपर हवा में उसे फूँक देता। कोई मशालवाला अपनी मशाल ऊपर उठा देता और सारे वातावरण में भक से आग लग जाती। इसके बाद आती महाकाली की चतुर्भुज प्रतिमा। एक हाथ में खप्पर और दूसरे में हंसिये की आकृति से मिलता जुलता परशु। तीसरे हाथ में त्रिशूल होता और चौथे में रुधिर टपकता हुआ नरमुण्ड। लाल रक्तस्नात जिह्वा बाहर लटकती हुई। नीले रंग की प्रतिमा के कंठ के नरमुण्डों की माला होती और कमर में होता हाथों को काट-काटकर बनाया हुआ अधोवस्त्र। नीचे पड़े होते शिव जिनकी छाती पर महाकाली का एक चरण होता। साथ-साथ

होती बिजली के लट्टओं की सजावट और लाल रोशनी। भय, श्रद्धा और आतंक में डूबे हम सभी लोग महाकाली को प्रणाम करते और उनके सही सलामत निकल जाने पर आश्वस्ति की सांस लेते। पुलिसवाले अपने माथे से बहता पसीना पोंछते और जिस दिशा में जुलूस गया हो उस तरफ देखकर दोनों हाथ जोड़ते। इस अवसर पर लकड़ी बनी तलवारें बिकतीं जिन पर लाल, हरा, नीला या पीला घुटमा पेपर चिपकाया होता था। हम ये तलवारें खरीद कर लाते और फिर उस समय की स्टंट फिल्मों के प्रसिद्ध कलाकार रंजन या महिपाल की स्टाइल में तलवारबाजी करते हुए अद्‌भुत गर्व, गौरव और आत्मसंतोष का अनुभव करते।

दशहरे की धींगामुश्ती, रामदल की तैयारी और जुलूस की भम्भड़ की थकान भी न उतर पाती कि दीवाली का जश्न सामने आ खड़ा होता। तब सीमेन्ट के मकान इतनी बड़ी संख्या में नहीं बने थे। कच्चे मकान बारिश में उधड़ जाते थे। हम दीवाली की तैयारियों में जुट जाते। ऐसी छपाई-लिपाई होती कि मिट्टी लाते-लाते गर्दन टूट जाती । पोतने के लिये आये हुए मजदूरों को भगाकर हम खुद मरते-जीते सारा घर पोतते और पिताजी से पुताई के पैसे वसूल कर पटाखे चलाते। पटाखों के लिये भाई-बहिनों में जो खींचतान और छीन झपट होती वह 'ग्यारस' (एकादशी) तक जारी रहती। दीवाली के दिन हम मुहल्ले भर में जलते हुए दीपक घर-घर ले जाते। पड़ोसियों के यहाँ जाकर चिल्लाते-चच्ची मेहमान आये हैं और 'चच्ची' दौड़कर हमसे जलता हुआ दिया लेकर उसे मेहमान की तरह अदब से ताक पर रख देतीं । फिर पटाखों के लिए नकद चमचमाता रुपया हमारी हथेली पर रख देतीं।

दीवाली के दूसरे दिन गोवर्धन पूजा होती। लोग अपनी-अपनी गायों को विभिन्न रंगों से रंगते। काली-पीली-लाल-हरी और नीली गोल छल्लों से रंगी गायें बहुत भली लगतीं। गाय चराने वाले ग्वाल कृष्ण की तरह सजते और साक्षात् गोप बन जाते। बढ़िया साटन का लाल कुरता, उस पर मखमल की काली जाकिट। छाती पर दायें-बायें दोनों कंधों को क्रास करती हुई कौड़ियों की तीन लड़ी माला। हाथों में कौड़ियों की एक लड़ या बालों की बुनी हुई रस्सी। कुछ न हुआ तो लाठी। माथे पर एक लाल गमछा बंधा रहता और रहता आँखों में काजल। नई झक सफेद धोती और कपड़े के नए जूते मोजों पर घुंघरु बंधे रहते। एक-दो साथी मंजीरे खनकाते बाजे वालों के साथ-साथ चलते। कान पर हाथ रखकर कोई रसिक गोप जोर से एक पंक्ति उठाता -गोरी हारे नें जाव ऽऽऽ रे ऽऽऽऽ और बाकी समूह जोर से चिल्लाता - हो ऽऽऽ । थोड़ी देर, अमूमन दस सेकेन्ड टिमकी टिनकती फिर दूसरी पंक्ति गाई जाती - गोरी हारै नें जाव ऽऽऽ - पीपर के पत्ता पै देवता ऽऽऽ। इसका भावर्थ होगा- अरी ओ गोरे रंग वाली मेरी प्यारी, तू घास के मैदान की ओर मत जाना। वहाँ जो पीपल का पेड़ लगा है उसके पत्तों में देवता वास है। तू उधर गई तो वे तेरे ऊपर रीझ जायेंगे फिर मेरा क्या होगा? और - दिगड़ी की तान-तान दिगड़ी की तान-तान- की धुन पर नाच शुरू हो जाता। नाचने वालों के मुख में देशी दारू की गंध होती और आँखों में नशे के कारण लाल डोरे। उनके साथ-साथ दस-बारह बरस के लड़के भी नाचते।

इन लड़कों की सजावट थोड़ी अधिक ही होती और उनके पिता या चाचा के अति उत्साही मित्र लोग उन्हें भी थोड़ी दारू पिला देते। नतीजन लड़के नाचते-नाचते बेहाल हो जाते। ये ग्वाल जिन-जिन घरों की गायें चराने जाते थे, उन-उन घरों में ये जरूर नाचने पहुँचते और गृहस्वामी गोपाल कृष्ण का स्वरूप मानकर उन्हें अक्षत तिलक से पूजकर रुपए भेंट करते। ज्यों-ज्यों महुए से बनी देशी दारू का नशा बढ़ता त्यों-त्यों 'दिवारी' गाने का बंधन ढीला होता जाता और फिर ख्याल, स्वाँग और फागों तक मामला पहुँचता। मगर मूल ध्वनि अपनी जगह मौजूद रहती और मौजूद रहता अपने गोपालक होने का गर्व - आम ऽ फरे ऽऽ महुआ ऽ फरे ऽऽ और सबसे ऽ फरे ऽऽ खजूर ऽऽ रे अरे कौन-कौन फल टोरिये ऽऽ कै मोरी ऽ गऊएँ निकर गईं दूर ऽऽ रे ऽऽऽ। ग्वालों में से कुछ लोग 'मौनिया' बनते। ये सजी-धजी वेशभूषा में सारे शहर की परिक्रमा करते और 'रमझिरिया' पहाड़ी पर बने मंदिर पर पहुँचकर गोवर्धन पूजन करते। रमझिरिया पर इस मौके पर शानदार मेला भरता आसपास के गाँवों से लोग बैलगाड़ियाँ लेकर आते। आटो और टेम्पो उस वक्त थे नहीं। लोग पैदल, साइकिलों और ताँगों से मेले में पहुँचते। इस अवसर पर ताँगा दौड़ होती और जीतने वालों को बाकायदा इनाम मिलते। मेले से लौटने वाले हाथों में गन्ने थामे लौटते। गन्ना इस मेले की खास चीज थी। हाथ में थमा गन्ना इस बात का प्रमाण था कि श्रीमान 'रिमझिरिया' के मेले से लौट रहे हैं। अतः लोग गन्ने को कंधे पर विजय पताका की तरह रखे-लहराते हुए घर लौटते।

ज्यों-ज्यों कार्तिक की ठण्ड बढ़ती जाती त्यों-त्यों महिलाओं की कृष्ण भक्ति जोर पकड़ती। शरद पूर्णिमा होते ही 'कार्तिक पूजन' शुरू होता - यह सिर्फ महिलाओं का एक माह चलने वाला पर्व होता। सौ-सौ, पचास-पचास के झुंड में मुँह अँधेरे वे तालाब में स्नान करतीं और कृष्ण का स्मरण करके रोज एक नए मन्दिर में दर्शन-पूजन का कार्यक्रम पूरा करतीं। वे पूजन की सामग्री बाँस की बनी छोटी-छोटी डोलियों में लिए रहतीं। रंग-बिरंगे वस्त्रों से सज-धजकर एक-दूसरे के लिए सौभाग्य की मंगलकामनाओं के साथ कुंकुम के तिलक लगाकर तालाब के किनारे पूजा करके वे निकल पड़तीं। यह संपूर्ण झुन्ड एक शालीन मन्थर गति से चलते हुए सुरीले किन्तु साफ स्वरों में गाता - आ जाऊँगी ऽऽ बड़े भोर ऽऽऽ दहीरा लैके आ जाऊँगी ऽऽ बड़े भोर ऽऽऽ यानी कन्हैया अलस्सुबह। अर्ली मार्निंग मैं तुम्हें दही लेकर आ जाऊँगी। एकादशी का इन्हें बड़ा महत्त्व होता था। एकादशी के बाद पाँच दिनांक तक उनका निरन्तर व्रत चलता और यह व्रत 'पँचबीकें' कहलाता। संक्रान्ति को घनघोर जाड़े में तिली का बना हुआ उबटन लगाकर नहाना पड़ता घर के बड़े-बूढ़े धमकाते-आज जो स्नान नहीं करेगा वह लंका में गधा बनेगा फिर लड्डुओं पर हमला बोला जाता। बसंत पंचमी को शंकर जी की लगुन लिखी जाती और शिवरात्रि को भगवान शंकर की बारात निकलती। बारात में भूतप्रेतों के मुखौटे चढ़ाए शिव के गणों की भारी संख्या हमें बहुत आकर्षित करती थी।

इसी अफरा-तफरी में होली आ पहुँचती। सारे मुहल्ले के लड़के होली की लकड़ियाँ

जुटाने में लग जाते। किसी में दम नहीं थी कि वह अपने घर की एक भी लकड़ी या फर्नीचर का कोई सामान बाहर रखा छोड़ दे। उधर नजर चूकी और इधर माल यारों का। इसी अवसर पर बैलगाड़ियों में लकड़ी भरे लकड़ी बेचने वाले आते और हुरियारों के हुड़दंग में फँसे रोते-गिड़गिड़ाते। कोई उनकी गाड़ी से लकड़ी खींच लेता, कोई घास। कई बार गाड़ीवान से झड़प होने पर लड़के उनकी 'हंकनी' और सैलों (अँग्रेजी के वाई अक्षर की आकृति की नौ इंच लंबी लकड़ियाँ जिनसे बैलों के गले में बँधी रस्सी फँसाई जाती है) को लेकर फरार हो जाते। गाड़ीवान उस सूरमा का पता पूछता उसके घर पहुँचता। घर वालों की झिड़कियों और कभी कभार पिटाई के बावजूद यह कार्यक्रम जारी रहता। भारी पैमाने पर लकड़ियाँ, कंडे और घास-फूस इकट्ठा होता। कई बार हम लोग दूर-दूर से खजूर के पेड़ काटकर ले आते। बच्चों की टोलियाँ गाते हुए घर-घर घूमतींहोरी-होरी की लकड़ी ऽऽऽ - देओ भाई कंडा ऽऽ । जब होली जलती तो घरों से लोग थोड़ा-थोड़ा ईंधन लाकर उसमें डालते। गेहूँ की बालें हाथ में लिए हम लोग जलती हुई होली के चक्कर लगाते और उसमें नवान्न भूनकर घर लौटते।

सुबह धुरैड़ी होती। दे रंग, गुलाल, कीचड़ और भंग के नशे में मदमस्त नाच। तिगड्डे पर सब इकट्ठे हो जाते। एक 'अरथी' का स्वाँग बनाया जाता। एक आदमी मुरदे की तरह उस पर लेट जाता। बाकी लोग उसे कन्धों पर उठाये विधिवत् शव-यात्रा निकालते। और उस सेठ या साहूकार का नाम लेकर विलाप करते जो होली के लिए चंदा देने में कंजूसी करता था। ऐसे आदमी के घर के सामने शवयात्रा रुक जाती। अरथी और आग की हंडिया जमीन पर रखकर लोग उसका नाम लेकर शोक मनाते। एक दो लोग मुर्दे बने हुए आदमी को लतियाते। साला इतना मोटा है कि कंधे दुख गये। मुर्दा उठ बैठता और कहता चार-छैः लाते और मारो, मगर मैं एक पैसा न दूँगा। मेरा नाम भी फलाँ सेठ है। यों जुलूस बैठा रहता और सम्बन्धित सेठ या साहूकार से नकद रुपये वसूल करके ही वहाँ से हटता। 'किशोर समिति' वाले ट्रकों में राधा-कृष्ण की होली-झाँकियाँ लिए रंग बरसाते निकलते। लोग अपनी छतों से उन पर रंग की पिचकारियाँ छोड़ते और सारा शहर रंगीन हो उठता। इस मौके पर जिसके घर के सामने से हुरियारों का जुलूस निकलता, वही अपनी जान की खैर मनाने लगता क्योंकि उसका बाकायदा नामोल्लेख करते हुए ऐसे अश्लील फोश और नीचट नारे लगाए जाते और नारों में उससे ऐसे-ऐसे काम कराए जाते कि, बाप रे बाप!

दिन भर रंगारंग कार्यक्रम के अन्त में शाम को मुहल्ले भर के बुजुर्ग इकट्ठे होते और मन्द स्वरों में गाते-बजाते हर उस घर में पहुँचते, जहाँ होली के पूर्व एक वर्ष में किसी की मृत्यु हुई हो। यह गमी दूर करना कहलाता था। इसमें राग-द्वेष का कोई स्थान न होता था और यह व्यक्ति के दुःख में समाज का साथ होना था। रंगपंचमी को आस-पास के कृष्ण-मन्दिरों में भगवान् के साथ होली खेली जाती। शाम से ही लोग साफ सफेद कपड़े पहने मन्दिरों में इकट्ठे होते; फिर हारमोनियम, ढोलक और मंजीरे खनक उठते। लोटे को दोनों हाथों में पकड़े सिक्कों

से ऐसा बजाया जाता कि वातावरण में सनाका खिंच जाता - फिर रसिक भक्त भंग की तरंग में गा उठते - अरे ऽऽ खेलें ऽ होरी ऽऽ खिलायें होरी ऽऽऽ - सिर ऽ बाँधे ऽ मुकुट ऽ खेलें ऽ होरी ऽऽऽ। गीत में क्रमशः सतयुग में गौरा-महादेव, त्रेता में सीता-राम और द्वापर में राधा-किशन के युगलों के होली खेलने का रसिक वर्णन होता और अन्त में तान टूटती देवर-भौजाई की होली पर - अरे ऽऽ चौथी ऽ होरी ऽ कलजुग में खेली ऽऽऽ - देवर भौजाई की ऽ है ऽ जोड़ी सिर ऽ बाँधे ऽ मुकुट ऽ खेलें ऽऽ होरी ऽऽऽ। गाने-बजाने के बाद पत्तों के बने दोने में प्रसाद बँटता, जिसमें अचार की चिरोंजियाँ और किशमिशें पड़ी रहतीं और पड़ा रहता तुलसीदल। भक्त लोग भगवान् पर चाँदी की पिचकारी से बासंती और गुलाबी रंग, जो टेसू के फलों को उबालकर बनाया जाता था, डालते और पुजारी सारे भक्तों पर रंग छिड़कते। सारा माहौल श्रद्धा, प्रेम और पारस्परिक लगावट के कारण अलौकिक हो उठता था।

अब अपने बैठकखाने में बैठा रेडियो सुनता हूँ। प्रसिद्ध लोकगायक सुधाकर आठले का गाया गीत मेरे रोम खड़े कर देता है। आँखों में अतीत फिर से जीवित हो उठता है - मोरे पिछवाड़े लौंगो के बिरछा ऽऽऽ - अंगिया ऽ रे ऽ राजा ऽऽ अंगिया ऽ रे ऽ उरझ ऽ गई डार ऽऽऽ। अर्थात् ओ मेरे राजा ! मैं घर के पिछवाड़े से आ रही थी और वहीं लौंग के वृक्ष लगे हुए हैं। एक वृक्ष की डाल मेरी चोली में ऐसी उलझ गई कि मुझे आने में विलम्ब हो गया। अब पिछवाड़े लौंगों के वृक्ष नहीं हैं। फ्लश बन गया है वहाँ और अंगिया के बारे में क्या कहूँ ? चक्कर बहुत बढ़ गया है - दौड़ में शामिल होना है तो पिछला सब भुलाना होगा, तभी दौड़ पायेंगे। आगे और आगे खूब आगे। पर मेरा मन तो बँधा रह गया है। पीछे और पीछे खूब पीछे।

37, विद्यापुरम, मकरोनिया सागर (म.प्र.)
मो. 9826221961

''मैं स्वदेशी भाषा में आपके समक्ष अपने विचार प्रकट करूँगा और इसके लिए मैं क्षमा नहीं माँगना चाहता। आप मेरी राष्ट्रभाषा नहीं समझ सकते परन्तु प्रयत्न कीजिए हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी है।''

महात्मा गाँधी

स्वच्छ-भारत के अभियान में विश्वविद्यालयों की भूमिका

अम्बिकादत्त शर्मा

परमादरणीय कुलपति जी एवं सभागार में उपस्थित विश्वविद्यालय परिवार के समादरणीय शिक्षकगण, छात्र एवं छात्राएँ तथा इस कार्यक्रम के आयोजनकर्त्ता समस्त हिन्दी विभाग! कालचक्र में 2 अक्टूबर तो प्रत्येक वर्ष आता है और हम गाँधी जयन्ती मनाते ही हैं लेकिन 2014 का यह 2 अक्टूबर यानी गाँधी जयन्ती कुछ विशेष महत्त्व रखता है। इसके विशेष महत्त्वपूर्ण होने के दो-तीन कारण हैं। पहला यह कि हमारे प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी ने इसके माध्यम से 'स्वच्छ-भारत' के अभियान को चलाने के लिए भारत के जनगण को न केवल प्रेरित किया है बल्कि इस कार्य के लिए संकल्पबद्ध होने का ऐतिहासिक आह्वान भी किया है। आप सभी जानते हैं कि हमें श्री नरेन्द्र मोदी जी के रूप में एक ऐसे प्रधानमंत्री मिले हैं जो भारत की आत्मा और अस्मिता से बहुत प्रेम करते हैं। मुझे याद नहीं कि आजाद भारत में किसी प्रधानमंत्री ने अपने राष्ट्रपिता की इतनी बुनियादी सोच को एक राष्ट्रीय एजेण्डे के रूप में लिया हो और उसे 'पब्लिक एक्टिविज्म' से जोड़ने का प्रयास किया हो।

दूसरी बात, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय में इस गाँधी जयन्ती का विशेष महत्त्व यह है कि आज हम सभी इस गाँधी जयन्ती को एक ऐसे कुलपति, प्रो. एस.पी. व्यास के नेतृत्व और अध्यक्षता में मना रहे हैं जो एक ओर उन्नत वैज्ञानिक मेधा के धनी हैं तो दूसरी ओर इनकी चेतना भारतीय प्रज्ञा से ओत-प्रोत है। जब वैज्ञानिक मेधा भारतीय प्रज्ञा से अभिसिंचित होती है तो उसका स्वरूप अपने आप ही कल्याणकारी बन जाता है। गाँधी जी तो कई मायने में विज्ञान और तकनीकी की आलोचना करने से भी बाज नहीं आते थे लेकिन अन्वेषण की वैज्ञानिक पद्धति, प्रकृति की गहरी समझ और जीवन के कल्याणकारी संगठनात्मक पक्ष के विकास के लिए वे सदैव ही विज्ञान की प्रशंसा करते थे।

मित्रों! इसे आप भारत माता का पुण्यसंभार ही कहिये कि यहाँ समय-समय पर महापुरुषों का अवतरण होता रहता है धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे। यह बात अखण्ड भारत के संदर्भ में जितनी सत्य है उतनी ही स्थानीय सन्दर्भों में भी सत्य है। बस अन्तर केवल इतना होता है कि महापुरुषों की भूमिकायें बदल जाती हैं। महात्मा गाँधी तो ऐसे महापुरुष थे जिनमें भारत का सत्य अपनी सोलहों कलाओं के साथ युगानुरूप नवीकृत हुआ था।

इसीलिए आज वे भारत की भौगोलिक सीमाओं को पार कर विश्व-मानवता की धरोहर बन गये हैं। उन्होंने अपने जीवन को सत्य के प्रयोग के बतौर जिया था। इसलिए उनके जीवन की एक-एक बात, छोटी से छोटी बात मूलगामी महत्त्व रखती है। आइये आज हम लोग गाँधी जी की 'स्वच्छता' विषयक दृष्टि को तनिक उसकी व्यापकता में साझा करें।

गाँधी जी के नजरिये से देखें तो स्वच्छता का मतलब केवल बाहरी स्वच्छता से नहीं है। बेशक वे बाहरी स्वच्छता के प्रति बहुत हठधर्मी थे लेकिन उसकी प्रतिष्ठा वे आन्तरिक शुचिता में देखते थे। बाहरी स्वच्छता साधन है और साध्य है आन्तरिक शुचिता। बाहरी स्वच्छता के प्रति वे कितने हठी थे, इसके लिए उनके जीवन की एक घटना का जिक्र करना यहाँ प्रासंगिक होगा। एक बार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगौर ने उन्हें शांति निकेतन में आमंत्रित किया था। उनके लिए शांति निकेतन के बीचो-बीच एक कुटिया बनवायी गई। गाँधी जी उसी कुटिया में रुके और दूसरे दिन उन्हें शांति निकेतन के शिक्षकों, विद्यार्थियों को सम्बोधित करना था। गुरुदेव के साथ वे मंच पर गये और मंच पर खड़े होकर उन्होंने सबको प्रणाम और अभिवादन किया तथा बिना कुछ बोले मंच से उतर गये और कुछ दूरी पर छिपाये गये गन्दगी के अम्बार को हाथों से साफ करने लगे। स्वाभाविक है, सभी उपस्थित लोग वही करने लगे जो गाँधी जी कर रहे थे। तब से लेकर आज तक शांति निकेतन में 'गाँधी पुण्याह सप्ताह' प्रत्येक वर्ष मनाया जाता है और उस सप्ताह भर शान्ति निकेतन के शिक्षक, और विद्यार्थी, मिलकर पूरे शांति निकेतन की सफाई करते हैं। सागर विश्वविद्यालय डॉ. हरीसिंह गौर का शांति निकेतन ही है, बल्कि शांति निकेतन से भी बढ़कर है। यदि यहाँ भी हम लोग 'गाँधी पुण्याह पखवारे' जैसी कोई परम्परा पर अमल कर सकें तो एक अच्छी शुरुआत होगी।

मित्रों! रवीन्द्रनाथ टैगोर ने विश्वविद्यालय को परिभाषित करते हुए कहा था इयं विश्वभारती, यद् विश्वम्भवत्येकनीड़म्। अर्थात् जहाँ पूरा विश्व एक नीड़, एक घोसला बन जाय वही विश्वविद्यालय है। दूसरे शब्दों में विश्वविद्यालय सभ्यता की एक प्रयोगशाला होती है और प्रत्येक शिक्षक एक सभ्यतावैज्ञानिक। इसलिए विश्वविद्यालयों की मानसिक शुचिता अपने आप में साभ्यतिक महत्त्व रखती है। यदि 'वर्चुअस ह्यूमन एक्सेलेंस' का निर्माण विश्वविद्यालयों का प्रमुख कर्त्तव्य है तो उसके लिए मानसिक शुचिता एक अनिवार्य शर्त है। मानसिक शुचिता के द्वारा ही सत्य स्वधा में रूपान्तरित होता है, अर्थात् जीवन में उसका क्रियान्वयन सम्भव हो पाता है। गाँधी जी अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में जब कभी भी धर्मसंकट की स्थिति में अपने को पाते थे तो वे अन्तःकरण की शुद्धि के लिए उपवास किया करते थे ताकि वे अन्तरात्मा की आवाज में सत्य का साक्षात्कार कर सकें। इस रहस्य की आज तक कोई अभियांत्रिकी और तर्कशास्त्र विकसित नहीं हो पायी कि क्यों अन्तरात्मा की आवाज, अन्तःकरण की शुद्धता में ही सत्य प्रकट होता है? गाँधी जी इसे सत्य की अभिव्यक्ति का नैतिक तकनीक कहते थे। गाँधी से पहले मनु और महाकवि कालिदास ने इसे पहचाना था। मनु महाराज श्रुति,

स्मृति और सदाचार से अधिक महत्त्व कर्त्तव्याकर्त्तव्य के संकट से उबरने के लिए 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' को देते हैं (श्रुति स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः)। अर्थात् आत्मा को जो प्रिय लगे उसकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध होती है। महाकवि कालिदास कहते हैं कि सतां संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः। अर्थात् सैकड़ों संदेहों के बीच शुद्ध अन्तःकरण की प्रेरणा ही सत्य का निर्णायक होती है। अन्तःकरण की शुचिता पर गाँधी जी जो इतना अधिक बल देते थे उसका यही रहस्य है।

मित्रों! ये बात तो हुई व्यक्तिगत स्तर पर आन्तरिक शुचिता की, परन्तु विश्वविद्यालयीय परिप्रेक्ष्य में शुचिता की बात और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। यह सम्भव है कि किन्हीं ऐतिहासिक कारणों से पूरा का पूरा समाज और संस्कृति का मानस विकृत हो जाये। ऐसी परिस्थिति में विश्वविद्यालयों को 'क्रिटिकल आई' की महत्तर भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है। आज वह समय आ गया है कि भारतीय विश्वविद्यालय, विचार और भाषा के धरातल पर भारत में व्याप्त साभ्यतिक प्रदूषण/गंदगी को दूर करने के लिए 'क्रिटिकल आई' की महती भूमिका निभायें। गाँधी जी ने बहुत पहले ही हमें इसके लिए आगाह किया था। यह साभ्यतिक गंदगी क्या है, इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'हिन्दस्वराज' नामक एक पूरी पोथी ही लिखी है लेकिन इस सन्दर्भ में विश्वविद्यालयों की भूमिका के लिए गाँधी जी के जीवन की एक छोटी सी घटना का जिक्र करना यहाँ बहुत ही समीचीन होगा। बात 21 जनवरी, 1942 की है। अवसर था काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का रजत जयन्ती समारोह। मंच पर काशीनरेश, दरभंगा महाराज, मदनमोहन मालवीय जी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन् और मुख्य अतिथि के रूप में गाँधी जी विराजमान थे। अपने अभिभाषण में गाँधी जी ने उस समय जो बातें कही थीं वह आज भी विश्वविद्यालयीय माध्यम से हो रही उच्च शिक्षा और उसके माध्यम से भारतीय मानस में आये साभ्यतिक प्रदूषण के लिए बड़ी चुभने वाली है। पहली बात उन्होंने भाषीय गुलामी के विषय में कहा था जो इस प्रकार है "यहाँ आकर मैंने जो कुछ देखा और देखकर मेरे मन में जो चीज पैदा हुई, वह शायद आपको कतई अच्छा नहीं लगेगा। मेरा ख्याल था कि कम से कम यहाँ तो सारी कार्यवाही अंग्रेजी में नहीं, बल्कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में होगी। मैं यहाँ बैठकर इंतजार कर रहा था कि कोई न कोई तो आखिर हिन्दी या उर्दू में कुछ कहेगा। हिन्दी, उर्दू न सही कम से कम मराठी या संस्कृत में ही कोई कुछ कहता। लेकिन मेरी सब आशायें निष्फल हुईं। अंग्रेजों को हम गालियाँ देते हैं कि उन्होंने हिन्दुस्तान को गुलाम बना रखा है, लेकिन अंग्रेजी के तो हम खुद ही गुलाम बन गये हैं। इस गुलामी के लिए मैं उनको जिम्मेवार नहीं मानता।" मित्रों! ध्यान देने की बात यह है कि हम लोग भाषा की समस्या पर कभी गम्भीरता से विचार नहीं करते। भाषा केवल बोल-चाल और सम्प्रेषण का तटस्थ माध्यम भर नहीं है। यह किसी सभ्यता और संस्कृति के लिए स्पेश की तरह होती है। संस्कृतियाँ भाषीय स्पेश में, निज भाषा में ही फलती-फूलती हैं। मातृभाषा ही वैचारिक स्वराज की राजपथ होती है। भाषा को बदल कर संस्कृतियों को

विस्थापित किया जा सकता है। परन्तु आप सोचिये, यह कैसी विडम्बना है कि भारत एक ऐसा देश बनकर रह गया है जिसकी कोई राष्ट्रभाषा नहीं है।

गाँधी जी ने इस अवसर पर जो दूसरी बात कही थी वह और दूर तक बेधने वाली है। ''पश्चिम के हर एक विश्वविद्यालयों की अपनी एक न एक विशेषता होती है। कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड को ही लिजिये। इन विश्वविद्यालयों को इस बात का नाज है कि उनके हर एक विद्यार्थी पर उनकी अपनी विशेषता की छाप इस तरह लगी रहती है कि वे फौरन पहचाने जा सकते हैं। हमारे देश के विश्वविद्यालयों की अपनी ऐसी कोई विशेषता होती ही नहीं। वे तो पश्चिमी विश्वविद्यालयों की एक निस्तेज, निष्प्राण नकल भर हैं। अगर हम उनको पश्चिमी सभ्यता का सिर्फ सोख्ता या स्याही सोख कहें, तो शायद वाजिब होगा।'' गाँधी जी ने यहाँ जिस उपमा (स्याही सोख्ता) का प्रयोग किया है वह बहुत कम शब्दों में भारतीय विश्वविद्यालयों के चरित्र के विषय में बहुत कुछ कह देता है। यह बात गाँधी जी ने 1942 में कही थी। तब हमारा देश गुलाम था। परन्तु आजादी के इतने दिनों बाद भी भारतीय विश्वविद्यालयों के चरित्र में कोई बड़ा बदलाव आया हो, यह तो नहीं कहा जा सकता। आज भी भारतीय विश्वविद्यालयों का औपनिवेशिक चरित्र ही बना हुआ है। वे सभी न्यूनाधिक रूप से साभ्यतिक प्रदूषण, पश्चिमी सभ्यता के साभ्यतिक प्रदूषण को आत्मसात् करने के माध्यम ही बने हुए हैं। इसका बीजारोपण लार्ड मैकाले ने 1835 में ब्रिटिश संसद में दिये गये अपने संक्षिप्त व्याख्यान से किया था। लार्ड मैकाले का वह वक्तव्य गौर करने लायक है ''मैंने हिन्दुस्तान का चप्पा-चप्पा छान मारा, इसके ओर-छोर तक-भ्रमण किया है। मुझे कोई भी एक ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो नैतिक दृष्टि से भ्रष्ट और चोर हो। मैंने इस देश में ऐसी समृद्धि देखी, ऐसे सक्षम और प्रतिभावान व्यक्तियों को देखा कि मैं समझता हूँ कि इस देश को विजित करने के लिए इसके सांस्कृतिक एवं नैतिक मेरुदण्ड को तोड़ना जरूरी है। यदि हिन्दुस्तानी यह सोचने लगें कि वह जो अंग्रेजी भाषा में और विदेशी है वह उनके आचार-विचार से बेहतर है तो वे अपना आत्मसम्मान खो देंगे और अपनी सांस्कृतिक विरासत से अलग-थलग पड़ जायेंगे। इस तरह वे एक पराधीन कौम बन जायेंगे जो हमारी चाहत है''।

मित्रों! भारतीय विश्वविद्यालयों में पश्चिमी सभ्यता का प्रदूषण किस प्रकार तन से मन तक पसर गया, कैसे वे *ऐन्द्रिक सभ्यता* (सेंसेट कल्चर) के स्याही सोख्ता बन गये, इसका इतिहास बड़ा लम्बा है। यह अपने आप में एक भारतनामा से कम नहीं। राष्ट्रकवि मैथलीशरण ने इसका बड़ा अच्छा संकेत किया है ''गौरव जताने में यहाँ उत्साह का लगता पता। बस बाद में ही वाग्मिता, पर-अनुकरण में सभ्यता''। संक्षेप में साभ्यतिक प्रदूषण के इस भारतनामा को कहें तो सन् 1857 में अंग्रेजों ने भारत में अपने विश्वविद्यालय स्थापित किये और तब से वे बाढ़ की तरह फैलते रहे हैं। इन विश्वविद्यालयों ने हिन्दुस्तानियों के भीतर एक नये ही वर्ग को पनपाया है जिस वर्ग में हम और आप सभी आते हैं जो अपने मुल्क और उसके लम्बे

अतीत से कहीं ज्यादा पश्चिम के बारे में जानते हैं। ज्ञान के हर क्षेत्र में हम केवल वही जानते हैं जो पश्चिम ने उपजाया हैयूनानियों से लगाकर आज तक। क्योंकि, हमारे स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में जहाँ हमारे दिलोदिमाग की ढलाई होती है, यही पढ़ाया जाता रहा है। इस प्रकार एक ऐसी मानसिकता का निर्माण हुआ जिसमें हर आदमी भीतर से यही मानकर चलता है कि सारे ज्ञान की जड़ें पश्चिम में हैं। यह भी कि भारतीय सभ्यता का अतीत इस दृष्टि से शून्य है कि उसका भी विश्वसभ्यता को कोई योगदान है? बस हमारे यहाँ कुछ है, जिससे थोड़ी बहुत उम्मीद की जा सकती है तो वह है सिर्फ अध्यात्म, धर्म या जो भी उसे कह लें। विश्वविद्यालयों से पनपा यह हमारा सर्वग्रासी स्मृति-भ्रंश हमारे भीतर इतनी गहरी जड़ जमा चुका है कि हममें से अधिकांश इस तथ्य से बिलकुल अवगत नहीं होना चाहते कि इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान उन सभी ज्ञानात्मक अभियानों से गुजर कर ही हम यहाँ पहुँचे हैं। हम भारतीयों की ऐसी स्मृति-भ्रष्ट बदहाली उस शिक्षा पद्धति की देन है जो अंग्रेजों ने विगत डेढ़ सौ वर्षों से भी अधिक पहले रोपी थी और विश्वविद्यालयों के माध्यम से उसे तन से मन तक पसारा गया है। अतः आज यदि हम स्वच्छ-भारत के अभियान के सन्दर्भ में विश्वविद्यालयों की भूमिका पर विचार करना चाहते हैं तो हमें इस साभ्यतिक प्रदूषण पर गहराई से मंथन करना होगा। इससे निजात पाने के लिए दवा भी वहीं से शुरू करनी होगी, जहाँ से यह रोग फैला है, यानि साभ्यतिक प्रदूषण से मुक्त भारत के लिए भारतीय विश्वविद्यालयों को पश्चिमी सभ्यता का 'ब्लॉट पेपर' बनने से परहेज करना और वैचारिक स्वराज का केन्द्र बनना होगा। इसका मतलब यह कदापि नहीं कि हम पूरी दुनिया से अपने को काट लें। *आनो भ्रद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः* सत्य और ज्ञान को चारों दिशाओं से स्वागत करने की भारतीय परम्परा रही है। बस आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय विश्वविद्यालय भारतीयता का स्लेट बनें। गाँधी जी कहा करते थे कि हम पश्चिम से तभी कुछ लेने के हकदार हैं जब हम सूद सहित उसे लौटा भी सकें।

(गाँधी जयन्ती, 2 अक्टूबर, 2014 को डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय में 'मुख्य वक्ता' के रूप में दिया गया वक्तव्य।)

प्रोफेसर
दर्शनशास्त्र विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 9406519498

भारत में शिक्षा

तीर्थेश्वर सिंह

उत्तर आधुनिक युग में हमारे देश में समाजशास्त्री एवं शिक्षाशास्त्री निरन्तर इस तथ्य पर गंभीर चर्चा कर रहे हैं कि भारत में शिक्षा कैसी होनी चाहिए? तरह-तरह के प्रयोग और विचार सामने आ रहे हैं; लेकिन प्रश्न इतना बड़ा है कि उत्तर इतना आसान नहीं। प्राचीन भारत में गुरुकुल शिक्षा की बड़ी सुचारु एवं भेदभाव युक्त शिक्षा व्यवस्था हमारे ऋषि मुनियों ने की और मूल्य आधारित वह शिक्षा राजा रंक को समान ही दी गई। कथा में आता है कि चार ब्राह्मण गुरुकुल से शिक्षा लेकर चले और किताबी ज्ञान के आधार पर जीवन संग्राम में प्रस्तुत हुए और असफल रहे। अर्थात् शिक्षा केवल किताबी ज्ञान पर आधारित नहीं, बल्कि व्यावहारिक ज्ञान पर भी आधारित होनी चाहिए।

समकालीन शिक्षा व्यवस्था पर प्रश्न उठाते हुए प्रो. यशपाल मानते हैं कि शिक्षा के माध्यम से हम क्या पाना चाहते हैं? 90 प्रतिशत अंक पाने वाले छात्र या प्रतिभावान छात्र या दोनों। इतिहास साक्षी है कि जेम्सवाट एक सीधा-साधा और सामान्य छात्र था, लेकिन केतली में खौलते हुए पानी और ढक्कन को उछलते हुए देखकर उसके उत्तर को ढूँढ़ते हुए उसने भाप की शक्ति का अविष्कार कर डाला। उसमें छुपी प्रतिभा थी, जिसे उसकी जिज्ञासा ने ढूँढ़ लिया। कक्षाओं में हम निर्धारित विषय समाप्त करने में ही पूरा वर्ष व्यतीत कर देते हैं, कभी हम यह कोशिश नहीं करते कि किस छात्र का झुकाव कहाँ है? और उसमें क्या प्रतिभा छुपी हुई है? यह एक बड़ा प्रश्न शेष रह जाता है, लेकिन पूरा होता जाता है पाठ्यक्रम और छात्र को डिग्री मिल जाती है। यह आधुनिक शिक्षा प्रणाली अब पूरी तरह से बाजारतंत्र के हवाले है, क्योंकि वैश्वीकरण ने हमें यही दिया है।

आखिर हम कहाँ जा रहे हैं? इस सन्दर्भ में राधाकृष्णन कहते हैं ''तकनीकी तथा बुद्धिविकास के इस युग में हमने अपनी आस्था को भी दाँव पर लगा दिया पर इससे हासिल क्या हुआ? क्या हम अपनी आस्था और श्रद्धा का विसर्जन करके किंचित मात्र भी वर्तमान के प्रति आश्वस्त हो पाये हैं? यह आध्यात्मिक खोखलेपन, नैतिक विमूढ़ता तथा सामाजिक अराजकता का युग है, साथ ही आर्थिक तथा बौद्धिक नृशंसता का युग है इस खोखलेपन के कारण व्यक्ति शून्य में जी रहा है। आधुनिक सभ्यता का सर्वाधिक दुष्प्रभाव ही यह है कि हमने अपने मूलव्यक्तित्व की उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया है और वास्तविकता से परे एक छद्म जीवन जीना प्रारम्भ कर दिया है। आज का युग जिस त्याग और सौहार्द की उपेक्षा करता है, उसके योग्य आज का मानव अपने को नहीं पाता, उसकी चेतना अहं केन्द्रित है, किन्तु

आदर्शों की वह कल्पना करता है, वे अहं विलयन की स्थिति में ही सार्थक हो पाते हैं। यथार्थ और आदर्श की इस असंगति को एक सार्वभौम चेतना का स्पर्श ही सुलझा सकता है। इसकी सम्भावना को हमें सैद्धान्तिक स्तर पर नहीं स्वीकार करना है, प्रत्युत इसकी प्राप्ति के लिए अपने को निरपेक्ष भाव से समर्पित कर देना है।''[1]

यह है पूरी तस्वीर आज के व्यक्ति की और उसमें किस तरह बदलाव हो। कुल मिलाकर अपने अन्तर्जगत को अनुशासन में लाना होगा, क्योंकि शिक्षा व्यक्ति को सर्वांगीण विकास तो करती ही है, साथ उसे हर तरह से अनुशासित भी करती है।

भारत में शिक्षा की स्थिति को लेकर समय-समय पर कई शोध सामने आये। कुछ समय पूर्व ''प्रथम'' नाम की एक गैर सरकारी संस्था ने पूरे देश में एक गहन सर्वेक्षण किया जिस का तथ्य चौंकाने वाला है। वह यह है कि सरकारी विद्यालय के पाँचवीं और सातवीं कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थी दूसरी-तीसरी कक्षा के प्रश्नों को हल नहीं कर पाते। यह स्थिति बाद के वर्षों में बराबर कायम है। गुजरात में पाँचवी का 93 प्रतिशत तथा महाराष्ट्र का 73 प्रतिशत बच्चा अंग्रेजी का सामान्य वाक्य भी नहीं पढ़ पाता। विश्वनाथ सचदेव ने अपने लेख में माना है ''मुंबई का अध्यापक शिक्षा के अधिकार कानून के तहत योग्यता टेस्ट नहीं देना चाहते, क्योंकि उसे भय है कि कहीं वह असफल न हो जाए...।''[2] इस सन्दर्भ में शिक्षाशास्त्रियों का कहना है कि अध्यापकों को उचित और समुचित प्रशिक्षण न दिए जाने के कारण ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई। विश्वनाथ सचदेव इस पर तल्ख टिप्पणी देते हुए कहते हैं कि इस शर्मनाक स्थिति के लिए कौन उत्तरदायी है? यदि अध्यापक योग्य नहीं है तो अयोग्य अध्यापकों के चयन हेतु जिम्मेदार व्यक्तियों के खिलाफ कार्रवाई क्यों नहीं होती? कमी कहीं है तो हमारी शिक्षा प्रणाली में है। आज भी गाँव, कस्बों के स्कूलों में वे साधन उपलब्ध नहीं हैं, जो उचित शिक्षा के लिए जरूरी हैं। इनमें न तो उचित पाठ्यक्रम हैं न ही उचित मार्गदर्शक शामिल हैं। मध्यान्ह भोजन का लालच देकर बच्चों को स्कूल तक तो पहुँचाया जा सकता है, लेकिन उसके स्कूल पहुँचने का औचित्य तो तभी प्रमाणित होगा जब उन्हें सही शिक्षा देने की व्यवस्था होगी।[3] हालांकि इस सन्दर्भ में मैं मानता हूँ कि सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रयासों से पहले से अब बहुत परिवर्तन हुआ है एवं और भी की जरूरत है।

आज की स्थिति पर अपनी रायसुमारी देते हुए स्वतंत्र पक्षकार लोकेश मालती प्रकाश कहते हैं कि, ''एक पेशे के तौर पर हमारे देश में शिक्षा का लगातार अवमूल्यन हुआ है, बल्कि स्कूली शिक्षा की तो विशेष तौर पर कुमति हुई है। अगर इस बारे में कोई सन्देह हो तो अपने आसपास देख लीजिए कितने नौजवान स्कूल के शिक्षक बनने की इच्छा रखते हैं? उनकी पहली पसंद तो सरकारी अफसर, डॉक्टर, इन्जीनियर आदि बनना होता है। लड़कियों के लिए टीचर बनना उतना बुरा न माना जाए, लेकिन यह भी सामाजिक लिंगभेद से उपजी मानसिकता का नतीजा है।[4]

ऐसे ढेर सारे खुलासे और चिन्तन भारत में शिक्षा व्यवस्था को लेकर आज हमारे सामने हैं। जब हम सुदूर प्राचीन शिक्षा पद्धति की तरफ देखते हैं तो उमेश चतुर्वेदी के शब्दों में कह सकते हैं ''भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति जहाँ तत्व साक्षात्कार पर जोर देती थी, तो आधुनिक शिक्षा पद्धति का जोर छात्रों को सूचित करने पर है। इस कारण छात्र शिक्षक के सम्बन्ध भी

पहले जैसे नहीं रहे। पारंपरिक शिक्षा पद्धति में ज्ञान के साथ ही संस्कारों पर भी जोर रहा है लेकिन शिक्षा व्यवस्था के मूल में पारंपरिक संस्कारों से दूरी हो रही है। अतः जैसे-जैसे यह व्यवस्था जोर पकड़ती गई, वैसे-वैसे संस्कारों से दूरी बढ़ती गई।''[5]

आज शिक्षा में ग्रेडिंग सिस्टम के कारण छात्रों में अपने अध्यापक से बेहतर सम्बन्ध बनाने का दबाब बना है। लेकिन यह कितना हो पा रहा है? यह देखने और समझने का विषय है। इस परिदृश्य पर अपनी बात कहते हुए प्रो. अनिल सदगोपाल कहते हैं ''जिन नवउदारवादी नीतियों से शिक्षा व्यवस्था समाज को बाँटने और लूटने का जरिया बनी है, उन्हीं के जरिये देश के जन-मानस को कमजोर किया जा रहा है। यह लड़ाई महज़ शिक्षा व्यवस्था को बचाने की नहीं है, इसलिए अपने अर्थवाद के सीमिति दायरे से बाहर निकलकर शिक्षक संगठनों को नवउदारवाद के ख़िलाफ देशभर में उभर रहे चेतना भाव से जुड़ना होगा।''[6]

इन सारी चर्चाओं से तो यही बात उभरती है कि कुछ न गड़बड़ है। इन सारी गड़बड़ियों को समय रहते दूर करना होगा। कुछ लोग यह मानते हैं कि मानव संसाधन तैयार करने वाले अध्यापक चयन और मापदण्ड का तरीका भारत के सन्दर्भ में ठीक नहीं है। मैं भी इससे सहमत हूँ। यह चाहिए कि आई.आई.टी और आई.एम.एम. की तरह के संस्थान हमारे अध्यापकों को तैयार करने वाले होने चाहिए। चयन आयोग के माध्यम से हो और संघलोक सेवा आयोग की तरह स्वतंत्र संगठन हो। जब तक इस पेशे को इस तरह की व्यवस्था से नहीं जोड़ेंगे, तब तक योग्य और कुशल मानव संसाधन तैयार करने वाला अध्यापक इस पेशे से नहीं जुड़ेगा। राजनीतिज्ञों, समाजशास्त्रियों और शिक्षाशास्त्रियों को इस हेतु गंभीर पहल करनी होगी। एकीकृत पाठ्यक्रम, एकीकृत व्यवस्था और एकीकृत अध्यापक चयन जब तक नहीं किया जायेगा तब तक मानव संसाधन तैयार करने वाली शिक्षा चतुर्दिक फैली शिक्षा व्यवस्था में कोई क्रान्तिकारी अध्याय नहीं जोड़ सकती।

अतः समय रहते हम इस व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन लायें। तभी यह देश खुशहाल होगा और आने वाले पीढ़ियों का कुशल नेतृत्व इस देश को प्राप्त होगा।

प्रोफेसर
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय,
अमरकंटक (म.प्र.)
मो. 09425331307

सन्दर्भ :

1. डॉ. राधाकृष्णन, द स्पिरिट ऑफ मैन, कन्टम्पोरेरी इंडिया फिलॉसफी।
2. विश्वनाथ सचदेव, शिक्षा व्यवस्था की हालत बेहद खराब, राज एक्सप्रेस, जबलपुर, 7 सितम्बर, 2013, पृ. 5 ।
3. विश्वनाथ सचदेव, शिक्षा व्यवस्था की हालत बेहद खराब, राज एक्सप्रेस, जबलपुर, 7 सितम्बर, 2013, पृ. 5 ।
4. लोकेश मालती प्रकाश, शिक्षा पेशा होगी तो शिक्षक कर्मचारी ही रहेगी, प्रदेश टुडे, जबलपुर, गुरुवार, 5 सितम्बर, 2013 ।
5. मिलिंद नामवर, पहले जैसे नहीं रहे अब शिक्षक-छात्र सम्बन्ध, राज एक्सप्रेस, जबलपुर, 5 सितम्बर 2013, पृ. 4 ।
6. प्रो. अनिल सदगोपाल, गलत नीतियों के चक्रव्यूह में शिक्षक, शिक्षाविद व दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय के पूर्व डीन, नई दुनिया, जबलपुर, 5 सितम्बर, 2013 पृ. 6 ।

तीन कविताएँ

सुनीता जैन

उड़ान

उन्होंने जो कहना था कहा
करना था किया

तुम क्या बटोरती रहोगी
यह काँच टूटा, तमाम दिन,
बाँचती रहोगी
होठों-ही-होठों में

दो पँखों का यह छोटा पक्षी
देखो कैसे अभी उड़ा
छू आकाश की
ऊँची हथेली
फिर लौट आया
न इसने कहा कुछ
न कुछ भी सुना

इसे पता है
कैसे जीना है -
मृत्यु से पहले
यह मरा नहीं
तो नहीं मरा।

प्रहार

जब कुछ भी नहीं सधे, साधो तो
साधो अपना ही इकतारा
कसो तार को
हल्के-हल्के प्रहार से

लौट आयेगा संगीत व्योम में
पुलकित होगी रेत नदी की

जल के ऊपर
मुँह खोले
तैर रही होंगी मछली दो छोटी

धक्-धक्
धक्-धक् करती
तेरी अपनी ही धमनी जैसी

हठधर्मी

बस में तो कुछ भी नहीं
न बारिश का आना
न नदी का भरे-भरे रहना
न खेतों की हरियाली
न कोयल की कूक बौरवाली

कुछ भी तो नहीं
जिसके होते तुम कर्ता। तो भी
देते रहे दिलासा उम्र भर
स्वयं को मानते रहे विधाता

खेत हो गये खाली
चटकी चटकी, चटक-चटक कर धरती
न आई बारिश

नदी समा गई अपने ही भीतर
अब तुम हो और तुम्हारी
चिरसंगिनी निरस्तता

फिर भी भूलो नहीं
कि होगा दिन कल बड़ी सुबह,
जन्मेगा बच्चा इस उस घर
और सीखेगा गुड़लियों
सरकना रेत पर तपती

क्या तुम कमतर हो
उस बच्चे से भी -
कहना?

सहना,
सब कुछ
चुपचाप अकेले
क्यों कि यह चलना
यह गिरना
यह जी का टूट-टूट जाना,
सपनों का न आना
कोयल की चुप्पी
अगले मौसम तक-

यही वो है -
यही तो है
हठधर्म तुम्हारा

हर हार को
अपना हाथ उठा,
दिखलाना।

सी-132, सर्वोदय इन्कलेव,
नई दिल्ली- 110017
मो. 9810698985

तीन प्रेम कविताएँ

पंकज चतुर्वेदी

वह सैंडविच

वह सैंडविच जो तुमने
विदा होते समय दी थी
ट्रेन में
रात साढ़े नौ बजे
मेरे इसरार के बावजूद
कि घर पर माँ
खाने पर
इन्तिज़ार कर रही होंगी

वह एसएमएस
कि 'मैं तुमसे सम्मोहित हूँ'
मैंने भेजा तुम्हें
आधी रात के नशे में
अन्यथा इतना साहस
कहाँ देता है समाज

अर्से बाद मेरा डरते-डरते पूछना
सुखद अचरज तुम्हारा कहना
कि वह संदेश अब भी
सुरक्षित है

वाणी में इतनी सौम्यता
जैसे वह दुख को
बहुत पीछे छोड़कर
आयी हो मेरे पास
सौन्दर्य में इतना संकोच
जैसे वह प्रकट होकर भी
अप्रकट था

काश ! मैं कह सकता तुमसे
संस्कृति अगर रूप धारण करती
तो तुम्हारे जैसी होती
वह जिसमें हम साँस लेते हैं
पर जिसे पा नहीं सकते

दिन हैं या पर्दों का
एक सिलसिला है
रोज़ एक पर्दा हटाता हूँ
पूछता हूँ इस बियाबान में ---
कहाँ हो तुम ?

एक ही

यहाँ एक स्त्री है
जो किसी और ही
दुनिया में रहती है
यह उसके स्वप्न की
दुनिया नहीं

फ़िलहाल उसका सपना टूटता है
उसके बच्चे के
रोने और किलकने से
वह निशानी है प्यार की
जो उस स्त्री और
उसके पति के बीच
हुआ था
और नहीं भी हुआ था
पहले वह दो बच्चे चाहती थी
शायद इसलिए
कि खुशी दोगुनी हो जाय

प्यार दोगुना होकर मिले
या इस अज्ञात भय से
कि एक बच्चा कहीं खो जाय
तो दूसरे से आँसू थम सकें

मगर वह पहले बच्चे के
लालन-पालन की मुश्किलों से
इतनी आहत और पस्त है
कि अब वह कहती है :
'एक ही काफ़ी है'

अगरचे इस एक को वह
दिलोजान से चाहती है
इतनी उत्कंठा और संसक्ति से
गोया यह उस प्यार का विकल्प है
जो वह अब तक नहीं कर पायी

उसे देखकर लगता है -
गोया सचमुच
'एक ही काफ़ी है'

तुम जहाँ मुझे मिली थीं

तुम जहाँ मुझे मिली थीं
वहाँ नदी का किनारा नहीं था
पेड़ों की छाँह भी नहीं
आसमान में चन्द्रमा नहीं था
तारे नहीं
जाड़े की वह धूप भी नहीं
जिसमें तपते हुए तुम्हारे गौर रंग को
देखकर कह सकता :
हाँ, यह वही 'श्यामा' है
'मेघदूत' से आती हुई
पानी की बूँदें, बादल
उनमें रह-रहकर चमकनेवाली बिजली
कुछ भी तो नहीं था
जो हमारे मिलने को
ख़ुशगवार बना सकता

वह कोई एक बैठकख़ाना था
जिसमें रोज़मर्रा के काम होते थे
कुछ लोग बैठे रहते थे
उनके बीच अचानक मुझे देखकर
तुम परेशान-सी हो गयीं
फिर भी तुमने पूछा :
तुम ठीक तो हो ?

तुम्हारा यह जानते हुए पूछना
कि मैं ठीक नहीं हूँ
मेरा यह जानते हुए जवाब देना
कि उसका तुम कुछ नहीं कर सकतीं

सिर्फ़ एक तकलीफ़ थी जिसके बाद
मुझे वहाँ से चले आना था
तुम्हारी आहत दृष्टि को
अपने सीने में सँभाले हुए

वही मेरे प्यार की स्मृति थी
और सब तरफ़ एक दुनिया थी
जो चाहती थी
हम और बात न करें
हम और साथ न रहें
क्योंकि इससे हम
ठीक हो सकते थे

असिस्टेण्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 09335156082

कैलास रजक

दिनेश अत्रि

शीशम की कतार खत्म होने को है
कुहा पर फूटता है नन्हा सा कलरव
सेमल पलाश की धूप छाँव में
बुलबुलों सी उड़ती है रुई की फुहार...

विश्वविद्यालय पहुँचने घाटी चढ़ रहा होता हूँ
कि पुलिस लायन्स या क्रिश्चियन छात्रावास के आसपास
निस्संकोच रास्ता रोकता है एक नन्हा हाथ
हल्की जुंबिश से बस्ते पर पीठ को संतुलित कर
वह उचककर बैठता है पीछे की सीट पर
कंधे कमर पीठ या पेट पर नन्हीं नर्म गदेलियों का स्पर्श
अटपटा, फिर सुखद लगता है कि चौकन्ना हो उठता हूँ
जब महसूसता हूँ उन्हें अपनी जेब के आसपास
ज़ाहिर तौर पर हालाँकि पूछ रहा होता हूँ बच्चे का नाम
'कैलास, कैलास रजक' बताता है वह
'किस क्लास में पढ़ते हो'
'सातमीं में'
'किस स्कूल में'
'सूडिस मिसन...
सुबह सात बजे खुलता है स्कूल
दोपहर बारह बजे होता है बंद
साढ़े नौ बजे खाता हूँ टिफ़िन
आज खाया है पोहा...'

'भूखे होगे, घर जाकर खाओगे अब?'
'नहीं, अभी नहीं, तीन बजे'

'तीन बजे! क्यों, क्या करोगे तब तक'
'पढ़ूँगा, पूरा करुँगा होमवर्क'

'पढ़कर क्या करोगे'
'इंजीनियर बनूँगा'

'क्या करते हैं तुम्हारे पिता'
'मिस्त्री हैं, कारपेंटर'

'नाम?'
'जी, स्री रामनरायन रजक'

'और कौन-कौन है घर में'
'थैंक्यू अंकल!'

सिलसिला टूटता है,
तपाक से उतरता है वह

पथरिया जाट के इस छोकरे के अंदाज़ में
कृतज्ञता की बनिस्बत कहीं अधिक है
सूडिस मिसन से होने के बावजूद
कॉन्वेंट की टक्कर का संभ्रांत होने का दावा

घाटी चढ़ते उतरते यह अक्सर का दृश्य है
शहर के इस हिस्से में निजी को सार्वजनिक में बदलते
दर्जनों बच्चे इसी तरह आते जाते हैं स्कूल

दृश्य में शामिल मैं आज भी चढ़ रहा हूँ घाटी
हस्बेमामूल पूछता हूँ, 'बेटे, क्या है तुम्हारा नाम?'
'हरीस, हरीस रजक'

'कौन सी कक्षा में हो'
'सातमीं'
'स्कूल?'
'सूडिस मिसन'

'पढ़ लिखकर क्या बनोगे'
'कम्प्यूटर इंजीनियर'

'शाबास!... अच्छा, क्या करते हैं तुम्हारे पिता'
'मिस्त्री हैं'

'क्या है उनका नाम'
'जी, स्री कैलास रजक'

प्रोफेसर
वनस्पति विज्ञान विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 9425171769

जंगल में मंगल

प्रतिभा पाण्डेय

एक दिन पेड़ों ने की एक आम सभा
सभा का विषय था जंगल में मंगल
जवानी में बुढ़ाये बेटेहनी शहरी पेड़ ने कहा
हमें मंगल के लिए आदमी से बचना होगा
जंगल के गदराये पौधे ने पूछा
भला आदमी से क्यों बचना
वह तो सबसे समझदार जानवर है।
शहरी पेड़ ने चुपके से इधर उधर देखा
कहीं कोई आदमी तो नहीं है
फिर आश्वस्त होकर बोला,
बेटा यह तुम इसलिए कह रहे हो
कि तुम जंगल में हो।
शहर में आदमी ने अपनी नस्ल इतनी बढ़ाई है
कि हमारे लिये वहाँ स्थान, जल, वायु और प्रकाश कहाँ ?
यदि हम फैलने की भूल करें तो वह हमारी टहनियाँ काट देगा
वह हमें जमीन से उखाड़कर गमले में लगा देगा
और हमारी जगह पर एक घर बना लेगा
यह कोरा गल्प नहीं, मैं भुक्तभोगी हूँ
इसीलिये मैं कहता हूँ ''अगर मंगल मनाना है तो
आदमी से दूर जंगल में रहो।

प्रोफेसर
प्रौढ़ एवं सतत् शिक्षा विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 9406916643

चार कविताएँ

नवीन कानगो

चलते चलते

यकीं मानिये
मैं बाज़ार नहीं गया था
वरन बाजार मेरे घर में घुस गया
उसने बेचा मुझे बहुत कुछ गैर जरूरी
और ले गया
फाख्ते,
हरी घास,
फुदकती गिलहरी
टिटहरी कि आवाज,
बगुलों के झुण्ड,
फेरीवाले की पुकार
और बहुत कुछ...
कहते हैं सौदे में हमेशा हमेशा
बाज़ार कमाता है।

कभी सोचा है

कहाँ चली गई वो खुशबू
जो सावन की पहचान हुआ करती थी

कहाँ चला गया वो तसव्वुर
जो दिन रात का मशगला था

कहाँ चली गयी वो पलकें
जो शाम कि ग़ज़ल हुआ करती थीं

दिल के किसी कोने में पड़े

पुराने टूटे संदूक में
बेतरतीब पड़ी ये चीज़ें कभी कभी
यूँ हीं बड़ा शोर करती हैं
देर रात...

दीदार

नीम शब्,
डरते डरते,
देख ही लिया कल चाँद को,
चाँद, पूरा तो ना था
मगर शोख बहुत था

चाँद के साथ, नज़र आये तुम भी,
उस हिस्से पर,
जो दिखा तो नहीं,
मगर था ज़रूर

जीवन गति ही तो है

जीवन गति ही तो है
नहीं क्या?
तारों की
पृथ्वी की
श्वासों की गति
हर क्षण बदलते
विश्वासों की गति.
यह गति ही इसे बनाती है
सापेक्ष
और निरपेक्ष भी।
अक्सर गतिमान
स्वयं को नहीं देख पाता
परिवर्तित होते दृश्य ही
उसे बताते हैं
उसके बारे में....।
जीवन गति ही तो है...

असोसिएट प्रोफेसर
व्यावहारिक सूक्ष्म विज्ञान विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 9425635736

तीन कविताएँ

पुनीता जैन

चोरी

तड़का लगना था मीठी नीम का
तोड़ लायी
बागीचे की चहारदीवारी से
बाहर जा
कोमल मीठी ताज़ी पत्तियाँ

चोरी कानों में बुदबुदाई
अपने ही घर में चोरी

मुस्कुरा दी
इसे क्या पता
कितना मासूम है
चहारदीवारी से बाहर जा
तोड़ लेना
अपने ही लिए
अपनी ही पत्तियाँ

जैसे
चुराना अपनों से ही
अपने कुछ क्षण
जमा करना धीमें धीरे यह पूँजी
लुटा देना फिर उसे एक दिन
अपनों पर ही
अमित अपार

जैसे
दुख बाँट लेना अपना किसी से
घर की सीमाओं से बाहर
और बदल उसे
गहरे तोष में
लौटा लाना बार-बार
अपनों के लिए
बारिश की पहली बौछार

होती रहें
घटती रहें
जीवन में कुछ मीठी चोरियाँ
कितना ताब दे जाती हैं वे
ज़लज़लों का
करने सामना

स्त्री मन

दुर्ग के
विशालकाय दरवाज़े के पीछे
दरवाज़े-दर-दरवाज़े
अड़तालिसवें दरवाज़े के भीतर
तहखाने के पिंजरे में बंद
पाखी एक

पुनर्नवा

काफी संभावना थी वहाँ
विश्वास तोड़े जाने की
किया तब भी विश्वास

टूटा नहीं
विश्वास पर बढ़ गया विश्वास
एक कदम आगे बढ़ गयी मैं

ठंडी हवा
जो आज तक दिखी नहीं
महसूस यूँ हुई जैसे दिखी

किसने कहा
दुबारा कुछ भी शुरू नहीं होता

द्वारा- राजेन्द्र जैन जी-03, फॉर्चून ग्लोरी एक्सटेंशन,
ई-8 एक्सटेंशन, बावड़िया कलाँ भोपाल - 462039
मो. 9425013623

''हिन्दी उस भाषा का नाम है, जिसे हिन्दू और मुसलमान कुदरती तौर पर बगैर प्रयत्न के बोलते हैं। हिन्दुस्तानी और उर्दू में कोई अंतर नहीं है। देवनागरी में लिखी जाने पर वह हिन्दी और फारसी में लिखे जाने पर उर्दू हो जाती है।''

महात्मा गाँधी

संदेह है कि संदेह नहीं

अनिल वाजपेयी

हरीसिंह गौर होने का मतलब ठीक ठीक खुद उन्हें भी पता था
इसमें संदेह है.

गाढ़ी कमाई का एक-एक पैसा नाई धोबी से जिरह कर बचाने
पड़ोसियों की नज़र में कंजूस का उलाहना सहते
सन् छियालीस में दो करोड़ का दान दे
बुंदेलखंड के पिछड़े नगर सागर में विश्वविद्यालय बनाकर
लाखों की जीवनचर्या जिस कदर बदल दी
उसका उन्हें अंदाज़ रहा होगा
इसमें संदेह है.

अँग्रेजी में मुक्त छंद में कविता लिखने वाले हालांकि वे पहले हिंदुस्थानी थे
पथरिया गाँव की ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी पर
चालीस विभागों का निर्माण
असल में विविध छंदों में रचा महाकाव्य है
इस तरह भी उन्हें कभी लगा हो
इसमें संदेह है.

ज़ाहिर है इनमें से कुछ विभाग तो छंदबद्ध हैं
कुछ छंदमुक्त कोई-कोई गद्य-कविता जैसे
और शेष को हममें से बहुतों ने
निरे गद्य में बदल डालने की भरपूर कोशिश की है
रहे होंगे वे संविधान सभा के महत्त्वपूर्ण सदस्य
प्रसिद्ध विधिवेत्ता महान् शिक्षाविद्
पर मूलतः थे वे कवि ही
सात अगस्त दो हज़ार चार को शाम पाँच बजकर तीन मिनिट पर
या फिर तीन जुलाई दो हज़ार दस को सुबह सात बजे
दुनिया के इस हिस्से में रहने पढ़ने वाले हम

क्या कर रहे थे या फिर क्या करेंगे
बरसों पहले तय कर गए थे वे
यह कुछ इस तरह होगा उन्हें मालूम था
इसमें संदेह है.

हम सब मिलकर कुछ भी कर लें कितना भी
उनके कोमल महास्वप्न को केंब्रिज यथार्थ में बदलने
हमेशा ही वह कम पड़ेगा
बस यही बात है एक कि जिसमें रत्तीभर संदेह नहीं.

संदेह है कि संदेह नहीं.

अनिल वाजपेयी
इंजीनियर संदीप वर्मा के सामने
मनोरमा कॉलोनी
मधुकरशाह वार्ड
सागर (म.प्र.)-470001
मो. 07582200528

"हिन्दी हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक व्यवहार में आने वाली भाषा है।"
राहुल सांकृत्यायन

बूढ़े गिद्ध का घोंसला

सुधीर नागेश लिमय

एक ऊँचे पहाड़ की चट्टान पर था एक गिद्ध का घोंसला
घोंसला क्या, कहीं अंडे न गिर जायें उन्हें रोकने को
चंद सूखी टहनियों का ढेर।

अंडों से कब चूजे निकले गिद्ध को इसका भान नहीं
भान तब हुआ जब चूजे गिद्ध अपने पंखों को अजमाने को
ऊँचे कर फडफड़ाने लगे।

बड़े चाव से गिद्ध उन चूजों को निहारता ताकता,
उनके पंखों को सँवारता, ऊँची उड़ान के लिये
उनकी बनावट को परखता।।

आज यह चूजा गिद्ध, चट्टान की ऊँचाई से
अपनी पहली उड़ान को तैयार
और इस पहली उड़ान को हर कसौटी पर
खरा उतारने, गिद्ध उसे तरह तरह की सलाह देता
टोकता दुलारता और समझाइश देता।।

कहीं चूक न जाये यह आशंका तो मन में रखता
पर छोटे गिद्ध के हौसले पर अपनी सीख से ज्यादा भरोसा रखता।
छोटे गिद्ध ने उड़ान भरी, समझाइश की
हवा के रुख के साथ पहले नीचे आकर सँभलने के बाद
फिर पंख पसारकर फिर ऊँचाई को पाना सब बताने के बावजूद
छोटे गिद्ध में कम ऊँचाई से ही, पर सफाई के साथ
हवा को चीरती एक ऊँची उड़ान भरी मानो
बूढ़े गिद्ध की सीख का अभिवादन हो।

और यही तो बूढ़े गिद्ध की चाहत थी, कोशिश थी
पर कशिश की शायद चूजा गिद्ध इससे भी ऊँची चट्टान पर
जिस ऊँचाई को हासिल करना बूढ़े गिद्ध के पंखों की ताकत से परे हो
जा बैठे। चलो बूढ़े गिद्ध की उड़ान तो पूरी हुई।

प्रोफेसर
रसायन विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 09424451130

मध्यप्रदेश महान

संतोष सोहगौरा

मध्यप्रदेश महान देश में, मध्यप्रदेश महान।
ख्याति सलोनी इसकी ऐसी, जाने जिसे जहान।।
पावन सरिताओं की सरगम, यशोगान माँ भारत का,
विंध्याचल आदर्श बांटता, गुरु परंपरा संस्कृति का,
कान्हा किसली यहाँ पचमढ़ी, सैलानी करते अभिमान।
मध्यप्रदेश महान, देश में मध्यप्रदेश महान।।
प्रकृति नदी का दर्शन होता, सतरंगी आभा ऊषा।
भोपाली सुषमा मनहर है, खुली हुई ज्यों मंजूषा।।
मातुशारदा यहाँ विराजी, एच.ई.एल. का गूँजे गान।
मध्यप्रदेश महान, देश में मध्यप्रदेश महान।।
सहज रूप से फूट पड़ती, गीत-संगीत की रसधार।
ये धरती है तानसेन की, जहाँ वो गायें मियाँ मल्हार।।
मनमोहक सुगंध यहाँ की, इसकी यह संतरंगी पहचान।
मध्यप्रदेश महान, देश में मध्यप्रदेश महान।।
भिन्न-भिन्न संस्कृति का संगम, जनमानस का मोह अडिग,
ऐतिहासिक उत्थान पतन की, यहाँ गुफाएँ सुप्त अडिग,
विश्व अजूबा खजुराहो है, जहाँ कल्पना का उत्थान ।
मध्यप्रदेश महान, देश में मध्यप्रदेश महान।।
ममलेश्वर ओंकारेश्वर दर्शन, महाकाल उज्जैनी है,
बौद्ध जगत की पावन धरती मांडू और सोनागिरी है,
चंदेरी है भीमबैठिका, भर्तृहारी का रखें मान।
मध्यप्रदेश महान, देश में मध्यप्रदेश महान।।
मर्मस्थल है हिन्द देश का, शूरवीरों की कर्मस्थली है,
पूरा देश जानता इसको, श्वेत सिंह की धरती है,
चित्रकूट पैश्वनी यहाँ, चचाई, भेड़ाघाट महान।
मध्यप्रदेश महान, देश में मध्यप्रदेश महान।।
इसके हर कण अक्षतचंदन, कोटिक इसे प्रणाम,
पानी इसका गंगा जल है, चरणामृत अभिराम,
इसे बढ़ाये हृदय समर्पित ज्योतिर्मय गुणगान।
मध्यप्रदेश महान, देश में मध्यप्रदेश महान।।

उपकुलसचिव
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 9479398600

धरती

भावना रेवाडीकर

इनसे ही उपजा है जीवन,
अमर रहे ये नाम
पानी, धरती और हवा को,
बारम्बार प्रणाम।

(1)

इस धरती के पेड़ सजीले, देते शीतल छाया,
पेड़ों ने दी हरियाली और फल-फूलों की माया,
सदा दिया हमको धरती ने, लिया न कुछ उपहार,
ये धरती करती आई है, माँ जैसा व्यवहार,
नदी पेड़, पर्वत घाटी है, इस धरती के प्राण।
पानी, धरती और हवा को बारम्बार प्रणाम।

(2)

मस्ती में इठलाती नदियाँ, कल-कल बहती जाती
कल-कल-कल निर्मल जल मानों, क्षीर हमें दे जाती
ये नीला आकाश दे रहा, कब से हमें दुहाई
जंगल से है पानी, पानी से है जीवन भाई
शीश झुकाकर इस पानी को, क्यूं ना करें प्रणाम
पानी, धरती और हवा को बारम्बार प्रणाम।

(3)

शुद्ध हवा इस धरती की, साँसों में घोले अमृत
हवा सारथी है जो खींचे सबके जीवन का रथ
जहर धुँए का शुद्ध हवा में, अगर घोलती आई
याद रखें हम सभी सभ्यता, मिट जाएगी भाई
नमन तुझे ऐ शुद्ध हवा भूले ना तेरा नाम।
पानी, धरती और हवा को, बारम्बार प्रणाम।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 9993117091

मनुष्य की उत्पत्ति : कुछ वैज्ञानिक तथ्य

राजेश गौतम

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा की मनुष्य की उत्पत्ति को ज्यादा समय नहीं हुआ है। कुछ तो यह मानने को तैयार ही नहीं कि मनुष्य की उत्पत्ति इस संसार में सबसे बाद में हुयी। कारण है उनकी अपनी धार्मिक मान्यतायें जिनके अनुसार संसार यथावत है, मतलब प्रारंभ से लेकर आज तक यह जैसे का तैसा है। कुछ लोग यह मानते हैं कि मनुष्य की उत्पत्ति संसार की उत्पत्ति के साथ ही हुई।

मनुष्य की उत्पत्ति कैसे हुयी, इसे समझने से पहले यह समझना आवश्यक है कि जीवन (Life) की उत्पत्ति कैसे व कब हुयी।

वैज्ञानिक खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि पृथ्वी की उत्पत्ति लगभग पाँच अरब वर्ष पूर्व हुयी है। भू-वैज्ञानिक खोजों से यह पता लगा है कि आज से लगभग साढ़े तीन से लेकर साढ़े चार अरब वर्ष पूर्व तक पृथ्वी पर किसी भी प्रकार के जीवन के चिन्ह नहीं मिलते। पृथ्वी पर जीवन के प्रथम चिन्ह एक कोशकीय प्राणियों के रूप में आज से लगभग 1.5 से 3.5 अरब वर्ष पहले अस्तित्व में आये। इस तरह जीवन का प्रादुर्भाव उपयुक्त तथ्यों, कारकों एवं पर्यावरण के संयोग से सम्भव हुआ।

आज से 1.5 अरब वर्ष पूर्व शैवाल व स्पंज की तरह के समुद्री जीवों का विकास संभव हुआ। लगभग 50 करोड़ वर्ष पूर्व प्रथम पृष्ठवंशीय (रीढ़ की हड्डी वाले) प्राणियों के उद्‌भव व अपृष्ठवंशीय प्राणियों के बहुतायत में होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। जल-स्थल चर (Amphibian) प्राणियों के प्रमाण 28 करोड़ वर्ष पहले से मिलना प्रारंभ हो जाते हैं। प्रथम स्तनधारी प्राणी डायनासोर, पक्षी, सरीसृप आदि का विकास लगभग 18 करोड़ वर्ष पहले हुआ। डायनासोर का अस्तित्व आज से लगभग 13.5 करोड़ पहले समाप्त हो चुका था।

आधुनिक मानव को अस्तित्व में आये महज 1.5-2.0 लाख साल ही हुये हैं। आधुनिक मानव की उत्पति बंदर, कपियों व मानवसम जीवों में क्रमिक उद्‌विकास से संभव हो सका। बहुत से लोग बंदर (Monkey) व कपियों (Apes) में भेद नहीं कर पाते। रामचरित मानस में तुलसी दास ने हनुमान, सुग्रीव, अंगद व बालि के लिए कपि शब्द का प्रयोग किया है। सामान्य व साहित्यिक हिन्दी में बंदर, वानर व कपि पर्यायवाची शब्द हैं। लेकिन वैज्ञानिक शब्दावली में

बंदर वे जीव है जिनकी पूँछ होती है। जबकि कपि से आशय ऐसे जीवों से है जिनकी पूँछ नहीं होती, जैसे चिम्पांजी, गौरिल्ला, औरंगउटान इत्यादि।

पूँछ विहीन मानवसम (Hominid) जीवों के जीवाश्म जिसे आस्ट्रेलोपिथेकस नाम दिया गया है, आज से 53 लाख से लेकर 16 लाख वर्ष पहले तक अस्तित्व में थे। इनके कपाल आकार में छोटे व कपियों के समान थे, लेकिन दाँत व अन्य कपालीय संरचना में कुछ-कुछ मानव से समानता दर्शाते हैं। इनके ज्यादातर जीवाश्म पृथ्वी के दक्षिणी गोलार्ध से प्राप्त हुये हैं, इसीलिए इन्हें आस्ट्रेलोपिथेकस नाम दिया गया।

इसी तरह चीन के पेकिंग नामक स्थान से व जावा द्वीप से भी आदिमानवों के जीवाश्मित अवशेष प्राप्त हुये हैं। इन्हें होमो इरेक्ट्स के नाम से जाना जाता है। होमो इरेक्टस से तात्पर्य है सीधे खड़े हो सकने में सक्षम मानवसम जीव। ये होमो इरेक्टस आज से लगभग 18 लाख वर्ष पूर्व अस्तित्व में आये। इनके बहुत से लक्षण आधुनिक मानव से मिलते-जुलते पाये गये। साथ ही ऐसे प्रमाण भी मिले हैं कि-ये गुफाओं में रहते थे व आग का प्रयोग करते थे। इनका जीवन पूर्णतः शिकार पर आधारित था। ये पाषाण उपकरणों का प्रयोग करते थे। संभवतः इन्होंने भाषा का प्रयोग आरंभ कर दिया था। ये मानव बड़े जानवरों जैसे- शेर, चीता आदि का शिकार करते थे। इस तरह के बड़े जानवरों का शिकार बिना सामाजिक व परस्पर सहयोग के संभव नही है। इनकी कपाल क्षमता 850-1300 घन से.मी. थी।

होमो इरेक्टस के जीवश्मित अवशेष भारतवर्ष से भी प्राप्त हुए हैं। सन् 1984 में अरुण सोनकिया को मध्यप्रदेश के होशंगाबाद से एक कपाल प्राप्त हुआ जिसे होमो नर्मदाडेंसिस या नर्मदा मानव के नाम से जाना जाता है। मध्यप्रदेश के विभिन्न स्थानों से आदिमानवों के गुफा व शैलचित्र मिलते हैं, जिसमें भोपाल के समीप भीमबैठका प्रमुख है।

होमो इरेक्टस से थोड़े बेहतर व विकसित मानवों के अवशेष यूरोप, अफ्रीका व एशिया के कुछ भागों से प्राप्त हुए हैं। चूँकि ये अवशेष पहली बार यूरोप के जर्मनी में नियंडर पहाड़ी के पास एक गुफा से प्राप्त हुये थे, अतः इन्हे नियंडरथल मानव के अवशेष के रूप में जाना जाता है। इन मानवों का अस्तित्व आज से 1 लाख से 35 हजार वर्ष पूर्व तक था। इनकी कपाल क्षमता 1600 घन से.मी. थी।

आधुनिक मानव जिसके अंतर्गत हम सब आते हैं, के अस्तित्त्व के प्रमाण एक-सवा लाख वर्ष से पुराने नहीं है। अधिकतम पुराना अवशेष दो लाख वर्ष पुराना होगा। मानव का आधुनिक स्वरूप अचानक अवतरित ना होकर धीरे-धीरे विकसित हुआ। ऐसा भी नहीं है कि बंदर से सीधे आदमी पैदा हो गया। बंदर से आधुनिक मानव के विकसित होने की प्रक्रिया में करोड़ों वर्ष लग गये। ऐसा नहीं है कि यह प्रक्रिया मानव बनने के साथ रुक गयी है, बल्कि यह एक अनवरत प्रक्रिया है। प्रत्येक पीढ़ी में मामूली परिवर्तन होता है। हर बच्चा अपने माता-पिता से भिन्न होता है। सैकड़ों पीढ़ियों के बाद यह अंतर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

लेकिन हम आगे आने वाले परिवर्तन को देखने के लिए, इतने लम्बे समय तक जीवित नहीं रह सकते। फलतः हम अपनी जिज्ञासा की पूर्ति भूतकाल में घटित घटनाओं से करते हैं। जीवाश्मों से निष्कर्ष निकालते हैं। उपर्युक्त वर्णन जीवाश्मों के अध्ययन पर आधारित है।

आज इस बात में संदेह नहीं है कि अजीवित पदार्थों से ही जीवन की उत्पत्ति हुयी एवं अरबों वर्षों से वह विकसित होते-होते वर्तमान स्वरूप तक पँहुचा है। इसी क्रम में ना सिर्फ मानव बल्कि आज हम जितने तरह के जन्तु व वनस्पति अपने चारों ओर देखते हैं, का विकास हुआ। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि, पृथ्वी पर जीवन का क्रमिक विकास (Evolution) हुआ है। संसार की उत्पत्ति को लेकर समय-समय पर विभिन्न धारणाएँ प्रचलित रही हैं, उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैंः-

भगवानवाद (Divine Creation)

प्रत्येक धर्म में सृष्टि की उत्पत्ति की अलग-अलग व्याख्या की गई है। हिन्दु धर्मावलम्बी मानते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की। उन्होंने ना सिर्फ मनुष्य की रचना की बल्कि- पृथ्वी, चाँद, सूर्य, तारे सब कुछ ब्रह्मा की रचना है। इसी तरह ईसाईओं में मान्यता है कि भगवान (God) ने छः दिनों में सृष्टि की रचना की, अंत में आदम व ईव बनाया जिनकी संतति आज के मनुष्य हैं। इस्लाम के अनुसार खुदा ने सृष्टि की रचना की। सभी धर्मों में सृष्टि की उत्पत्ति की अपनी-अपनी व्याख्या है। संभवतः आप भी इस बात से सहमत होंगे कि एक ही सृष्टि की उत्पत्ति अलग-अलग कैसे हो सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि यह सब धार्मिक मान्यतायें हैं। सच्चाई कुछ और ही है। यदि यह सब धार्मिक मान्यतायें हैं व सच्चाई नहीं हैं तो इसका मतलब हिन्दुओं के ब्रह्मा, ईसाइओं के भगवान (God) व मुसलमानों के खुदा भी काल्पनिक हैं।

विपत्तिवाद (Catastrophism)

इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की उत्पत्ति व विनाश लगातार चलता रहता है। कुछ-कुछ अंतराल के बाद ऐसी भयंकर विपत्तियाँ आती रहती हैं जिससे समूचा विश्व नष्ट हो जाता है। यह अंतराल हजारों, लाखों व करोड़ों साल का हो सकता है। ये विपत्तियाँ जल-प्रलय के रूप में, भूकम्प अथवा ज्वालामुखी के रूप में हो सकती हैं। ये विपत्तियाँ विभिन्न ग्रहों के आपस में टकराने या पृथ्वी व किसी क्षुद्र गृह अथवा पृथ्वी व किसी धूमकेतु की टक्कर से उत्पन्न हो सकता है। एक बार जीवन के नष्ट हो जाने के बाद उपर्युक्त वर्णित धार्मिक मान्यताओं के अनुसार पुनः दिव्य शक्तियाँ सृष्टि की रचना करती हैं।

इस सिद्धान्त में यह भी कल्पना की गयी है कि जल-प्रलय होने पर संपूर्ण पृथ्वी जलमग्न हो जाती है। लेकिन कुछ लोग दैवीय चमत्कार से बच जाते हैं, ये ही लोग आगे की विकास की कहानी लिखते हैं।

स्वतः उद्भववाद (Theory of spontaneous generation)

इस सिद्धान्त के अनुसार जीवन की उत्पत्ति सड़े-गले जैव पदार्थों से हुयी। इस मत के अनुसार प्रारम्भिक जीव यथा- मक्खी, कीड़े, मकोड़े इत्यादि इसी भाँति उत्पन्न हुये। लेकिन विभिन्न प्रयोगों के द्वारा वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया कि ऐसा नहीं है।

कॉस्मोजोइक सिद्धांत (Cosmozoic Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति नहीं हुयी बल्कि यह किसी अन्यत्र ग्रह पर हुयी व किसी तरह जीवन के अवशेष व कुछ जैविक पदार्थ यथा-बीज इत्यादि पृथ्वी तक पहुँचे एवं उसी से पृथ्वी पर जीवन का विकास हुआ। इस सिद्धान्त के पक्ष व विपक्ष दोनो में वैज्ञानिक तर्क व प्रमाण दिये गये।

विकासवाद (Theory of Evolution)

इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी पर मौजूद रासानिक पदार्थों की आपस में क्रिया के फलस्वरूप जटिल कार्बनिक पदार्थों का निर्माण हुआ। इन जटिल कार्बनिक पदार्थों की विभिन्न परिस्थितियों में आपस में क्रिया व प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जीवद्रव्य का निर्माण हुआ। कालान्तर में इससे एक कोशीय व बहुकोशीय जीवों का विकास हुआ। इसी क्रम में मानव का भी विकास हुआ। आज जीवन के उद्भव व विकास के सम्बन्ध में यह सर्वाधिक मान्य व प्रचलित सिद्धान्त है।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति व ब्रह्माण्ड में सौर मंडल एवं पृथ्वी की उत्पत्ति, पृथ्वी का ठंडा होना एवं ऑक्सीजन व हाइड्रोजन के संयोग से जल का अस्तित्व में आना व कालान्तर में विभिन्न रासायनिक व भौतिक क्रियाओं के फलस्वरूप जैविक द्रव्य अथवा जीवन की उत्पत्ति, जीवन का एक कोशीय जीवों से बहुकोशीय जीवों के रूप में विकास व कालान्तर में मानव की उत्पत्ति विभिन्न रासायनिक व भौतिक क्रियाओं के परिणाम स्वरूप हुई।

ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण संरचना की उत्पत्ति व विकास हेतु पदार्थ एवं ऊर्जा की अहम भूमिका है। ब्रह्माण्ड में कुछ भी नश्वर नहीं है, बल्कि उनके स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। अजीवित पदार्थमिट्टी, हवा, पानी को पेड़पौधे जीवित पदार्थों में बदलते रहते है जो कि खाद्य शृंखला के विभिन्न घटकों से गुजरते रहते हैं, जीव व पेड़-पौधे मरते है एवं मिट्टी, हवा, पानी में विलीन हो जाते हैं यह चक्र अनवरत रूप से चल रहा है। पदार्थ के स्वरूप में परिवर्तन की ही एक अवस्था जीवन है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
मानव विज्ञान विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 9425437414

हिन्दी मीडिया का मिशन

राजेन्द्र यादव

मनुष्य को मनुष्य भाषा ने ही बनाया है। भाषा मनुष्य समाज की पहली जरूरत है। जिसे सभ्यता कहते हैं, उसका पहला कदम भाषा ने ही रखा होगा। आज विश्व में अनेक भाषाएँ बृहत जनसमुदाय के मध्य सम्पर्क, संचार का साधन बनी हुई हैं। संचार क्रांति का माध्यम भाषाएँ ही हैं, जो अनेक प्रकार के संदेशों को लक्ष्य तक पहुँचाने का कार्य करती हैं। इन संदेशों को जिन संचार माध्यमों के द्वारा बृहत जनसमुदाय तक निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भेजा जाता है उन संचार माध्यमों, साधनों को मीडिया कहते हैं। ''मानव विकास और इस विकास जनित प्रक्रिया में संचार की महत्ता को सिद्ध करने के लिए निश्चित रूप से कोई औचित्य नहीं रह गया है। क्योंकि जो स्वयं सिद्ध हो उसे प्रमाणित करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता नहीं पड़ती।''[1] मीडिया में दो तरह के जनसंचार माध्यम आज सक्रिय हैं। एक इलेक्ट्रॉनिक मीडिया। दूसराप्रिंट मीडिया। इन दोनों माध्यमों में लक्षित जनसमुदाय तक संदेश ले जाने का कार्य भाषा के माध्यम से ही संभव होता है। अतः यहाँ यह बात स्पष्ट है कि भाषा ही समस्त जनसंचार के माध्यमों के केन्द्र में है। भाषा के बगैर कोई जनसंचार माध्यम पूर्णरूप से अपने संदेश जन समाज तक कारगर रूप में नहीं ले जा सकता। भाषा का प्रारंभिक रूप बोलचाल से आरम्भ होता है। लिपि और व्याकरण के अनुशासन उसके रूप को स्थायी बनाते हैं। भाषा का गतिमान होना उसकी एकरूपता के लिए आवश्यक होता है। किसी भी भाषा को गति उसके साहित्य के द्वारा ही मिलती है। मनुष्य के भाव, विचार, चिंतन, जीवन के विविध संदर्भ साहित्य की विभिन्न विधाओं के द्वारा व्यक्त होते हैं। अतः भाषा वही है, जिसमें साहित्य-रचना लगातार हो रही हो। क्योंकि केवल बोलचाल के दम पर कोई भाषा बृहत जनसमाज की सम्पर्क भाषा नहीं बन सकती। साहित्य रचना किसी भी भाषा की शिराओं में दौड़ने वाला रक्त है। जो बोलचाल की भाषा की सभी चुनौतियों को सुलझाता है। और साहित्य की भाषा श्रेष्ठतम वही है, जो प्रचलित बोलचाल की भाषा को साहित्य रचना की भाषा में सम्मिलित करते हुए लगातार बोलचाल की भाषा को गति दे। आज आधुनिक मीडिया के दोनों तरह के माध्यम (प्रिन्ट और इलेक्ट्रॉनिक) हिन्दी भाषा के बोलचाल के रूप को लेकर बहुत लोकप्रियता प्राप्त कर चुके हैं। हिन्दी भाषा के बोलचाल के इस रूप की पृष्ठभूमि में हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं का

वह मूल्यवान साहित्य भी है जिसके रचयिताओं ने हिन्दी भाषा को अपने रक्त से सींचा है। ''समाचार लेखन एक कला है। इसमें तथ्य, रोचकता, जानकारी, कुतूहल एवं विचार तत्त्व आदि का सामंजस्य रहता है, विविध विषयों, क्षेत्रों, स्थानों की सूचनाओं और गतिविधियों को कम से कम शब्दों में और प्रभावशाली ढंग से पाठकों तक पहुँचाना समाचार लेखन का मुख्य उद्देश्य है, इसलिए इसकी सबसे बड़ी कसौटी है, सहज संप्रेषणीयता और पाठकों की अभिरुचियों की संतुष्टि।''[2] प्रेस और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया आज जिस बोलचाल की हिन्दी में इतरा रहे हैं इस हिन्दी की शिराओं में खुसरो, रहीम, नजीर, अकबराबादी, तुलसी, सूर, केशव, बिहारी, पद्माकर, जायसी, निराला, प्रेमचंद, नागार्जुन, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, दुष्यंत कुमार, गणेशशंकर विद्यार्थी, माखनलाल चतुर्वेदी और गाँधी, सुभाष चन्द्र बोस जैसे लोगों का संघर्ष, चिंतन, भाव, विचार, संस्कृति और सभ्यता बह रही है। यहाँ यह बात बता देना आवश्यक है कि निराला, प्रेमचन्द, मुक्तिबोध आदि ने साहित्य सेवा की है। आज आधुनिक मीडिया समाज सेवा के साथ-साथ धनोपार्जन भी कर रहा है आधुनिक मीडिया आज एक मिशन भी है और एक इंडस्ट्री भी। मीडिया जिस बोलचाल की हिन्दी में भारत की जनता को प्रभावित कर रहा है उससे एक बात भविष्य में तय है कि हिन्दी एक दिन सम्पूर्ण भारत की सम्पर्क भाषा बनकर ही रहेगी। समाचार पत्र, पत्रिकाओं, बैनर, पोस्टर, फ्लैक्स प्रिंटिंग ने हिन्दी के बोलचाल के रूप को एक आम भाषा, आमजन की भाषा बना दिया है इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में मनोरंजन जगत के कार्यक्रमों, सीरियलों और सुरेन्द्रप्रताप सिंह से शुरू हुए टी. व्ही. न्यूज कार्यक्रम आज अनेक हिन्दी न्यूज चैनलों का रूप ले चुके हैं। यह हिन्दी की वह आँधी है जिसे कोई रोक नहीं सकता। और सब इस आँधी में बच-बचाकर चलते हुए भी शामिल हैं। ''इस सदी के मीडिया परिदृश्य में अब यह कहा जा सकता है कि सैकड़ों बमों की तुलना में एक टेलीविजन चैनल ज्यादा खतरनाक सिद्ध हो सकता है।''[3]

सावधान रहें हिन्दी के वे आलोचक जो आधुनिक मीडिया पर हिन्दी के प्रयोग से चिंतित और घबराये हुये हैं। यह सोचकर कि मीडिया ने हिन्दी का सत्यानाश कर दिया है और हिन्दी को बचाने के लिये जो अपनी लेखनी बोलनी में विलाप किये जा रहे हैं। आज हिन्दी की स्टेयरिंग हिन्दी साहित्य के तत्समवादी महान आचार्यों के हाथों से छूट गई है। अब हिन्दी की गाड़ी संचार क्रांति के एक्सप्रेस हाइवे पर दौड़ रही है, जिसका पीछा अब तत्समवादी, शुद्धतावादी विद्वान नहीं कर पा रहे, हिन्दी के इस तरह के रचनाकार हाशिये पर जा रहे हैं। जो सदियों पुराने शब्दों को हिन्दी कविता में प्रयोग कर हिन्दी को अबूझ पहेली बनाने पर तुले थे वे रचनाकार हिन्दी के एक्सप्रेस हाइवे के किनारे खड़े हिन्दी की रफ्तार और हिन्दी का बाजार देखकर हतप्रभ हैं। हिन्दी की इस रफ्तार का रास्ता हिन्दी के बड़े संपादक और मुक्तिबोध के बाद हिन्दी कविता की भाषा, अभिव्यक्ति और भारतीय समाज का भाषागत और अभिव्यक्तिगत असली चेहरा रघुवीर सहाय की कविता में, भाषा में दिखाई देता है। रघुवीर सहाय ने हिन्दी

भाषा को वो तरजीह दी, जो आज मीडिया दे रही है। आधुनिक मीडिया भारत की एक सम्पर्क भाषा बनाने जा रही है। और यह कार्य मीडिया का इस राष्ट्र की जनता को हृदय से जोड़ने का कार्य है। राष्ट्रीय एकता के लिये जो हम ना कर सके वह चुनौती भरा कार्य आधुनिक मीडिया कर रही है। हम सहमत हों तो भी और असहमत हों तो भी। ठीक वैसे ही जैसे भारत के सैकड़ों राजाओं के राज्यों को खत्म कर अंग्रेजी ने भारत को एक देश बना दिया था। यह और ऐसा और इतना भारत हम कभी नहीं बना पाते। भारत में मीडिया हिन्दी भाषा के माध्यम से जो व्यवसाय की एक सम्पर्क भाषा के रूप में दिखायी देगा यह सम्पर्क भाषा भले ही शुद्ध हिन्दी न हो पर एक मिलीजुली भाषा होगी। यही मिलीजुली भाषा क्षेत्रीय बोलियों, भाषाओं के शब्द होंगे और विदेशी भाषाओं के प्रचलित शब्द बहुतायत में इसकी वर्तनी में दिखायी देंगे और सुनायी भी देंगे। आज हिन्दी का जो महान रूप है कल यही रूप सम्पूर्ण हिन्दीभाषी राज्यों में हिन्दी का होने वाला है।

यह हिन्दी का इन्टरनेशनल रूप है जो मीडिया के द्वारा लगातार सक्षम होता जा रहा है। मीडिया की हिन्दी में हिन्दी जगत की सबसे बड़ी समस्या नये विषयों से संबंधित पारिभाषिक शब्दों के निर्माण और उनके इस्तेमाल की समस्या थी। लेकिन मीडिया ने नये और आयातित विषयों के शब्दों को जैसे का तैसा हिन्दी में प्रचलित कर हिन्दी वर्तनी में शामिल कर लिया है। यह मीडिया का मजबूरी में किया गया सराहनीय कार्य है, इसलिये आज हिन्दी फेसबुक और टिवूटर की भाषा बन गयी है। हिन्दी भारत की सबसे बड़ी कम्यूनिकेशन लैंग्वेज बन गयी है। मीडिया की हिन्दी भारत के बहुसंख्यक शिक्षित समाज की संचार भाषा है।

भाषा के अर्थ अनेक हो सकते हैं, लेकिन भाषा का सबसे बड़ा अर्थ है जिसमें मनुष्य अपने भाव-विचार व्यक्त कर सके। लिखित और मौखिक दोनों रूपों में। भाषा समाज की सभी जरूरतों को पूरा करती है। भाषा के अनेक रूप एक साथ गतिमान होते हैं। भाषा अपने समय के, समाज के मनोभावों को साहित्य की विभिन्न विधाओं में व्यक्त करती है। यह भाषा का सर्वोत्तम रूप होता है जो भाषा के अन्य सभी रूपों को ऊर्जा देता है। भाषा और संस्कृति दोनों का गतिशील होना ही उसकी जीवंतता का प्रमाण है। गतिशील होने का अर्थ है परिवर्तनशील। आज ग्लोब्लाइजेशन और संचार क्रांति के इस युग में वही भाषा जीवित रह सकती है जो संचार क्रांति और ग्लोब्लाइजेशन की चुनौतियों को स्वीकार कर सकती हो। भारत में संचार क्रांति और ग्लोब्लाइजेशन की चुनौतियों को क्षेत्रीय स्तर पर भारत की सभी क्षेत्रीय भाषाओं ने स्वीकार कर अपनी क्षमता का परिचय दिया है और राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी ने संचार क्रांति की आँधी में अपने पाँव मजबूती से जमाए हैं। राष्ट्रीय स्तर पर संचार-क्रांति और बाजारवाद की कसौटी पर हिन्दी

खरी उतरी है। हिन्दी ने भारत की क्षेत्रीय भाषाओं की स्वायत्तता को बरकरार रखते हुए मीडिया में अंग्रेजी को सीधी मात दी है।

आज भारत में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के व्यापार-व्यवसाय की प्रगति हिन्दी के बगैर संभव नहीं। हिन्दी केवल बाजार की भाषा नहीं वह भारत की सबसे बड़ी संचार भाषा भी है। आज मीडिया के दोनों रूप प्रिंट-मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक-मीडिया के विभिन्न माध्यमों पर हिन्दी एक सरस-सक्षम और गतिशील भाषा है, जिसमें आधुनिक जमाने की सभी चुनौतियों का सामना करने का दमखम है। आज भारत में हिन्दी समाचार पत्रों का प्रसार और पढ़ने वालों की संख्या अंग्रेजी अखबारों से अधिक है- हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशित पुस्तकों का बाजार अंग्रेजी से कम नहीं रहा। पठन-पाठन और शिक्षा में भी हिन्दी की स्थिति लगातार बेहतर होती जा रही है- मेडिकल और इंजीनियरिंग अभी हिन्दी की पहुँच से दूर हैं लेकिन वह दिन दूर नहीं जब हिन्दी इंजीनियरिंग और चिकित्सा शिक्षा की सभी चुनौतियों को स्वीकार कर लेगी। क्योंकि कम्प्यूटर शिक्षा में हिन्दी में पुस्तकें और शिक्षा आसान हो गयी है।

भारत की सभी भाषाओं में जनतंत्र है। लेकिन भारत के लोकतंत्र से होकर भारत की केन्द्रीय सत्ता का रास्ता हिन्दी के द्वार से होकर ही दिल्ली पहुँचता है, और कोई रास्ता है नहीं। अतः हिन्दी भारत के जनतंत्र की भाषा है- यह वही भाषा है जिसमें आमतौर पर संसद में अंग्रेजी में डिबेट करने वाले राजनेता आम-चुनाव में हिन्दी में चुनाव प्रचार करते देखे जाते हैं। हिन्दी भारत के अनेक बड़े प्रांतों की कामकाज की भी भाषा है। आज बैंक, बीमा, रेल और सरकारी कामकाज में हिन्दी भाषा का व्यावहारिक उपयोग हिन्दी को सरकार और आमजन की भाषा बना चुका है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के सभी प्रमुख माध्यम रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, विज्ञापन, फिल्म आदि हिन्दी भाषा में भारतीय समाज में लगातार अपनी पैठ बढ़ाए जा रहे हैं। आज भारत ही नहीं भारत के बाहर भी हिन्दी सिनेमा, हिन्दी के मनोरंजन चैनल, हिन्दी के न्यूज चैनल बड़े पैमाने पर विदेशों में देखे जाते हैं। भारत में हिन्दी मीडिया का लगातार प्रसार बढ़ रहा है। एफ.एम. रेडियो ने भी हिन्दी में अपनी खासी लोकप्रियता बना ली है। भारत में दूरदर्शन और निजी टेलीविजन के मनोरंजन ने हिन्दी सिनेमा के समान्तर एक इंडस्ट्री का रूप ले लिया है। पिछले एक दशक में हिन्दी न्यूज चैनल ने भारत में टेलीविजन पत्रकारिता को एक मजबूत आधार प्रदान किया है। यही नहीं आज भारत में हिन्दी भाषी प्रांतों सहित सभी क्षेत्रीय भाषाओं में भी टेलीविजन न्यूज चैनल सफलतापूर्वक संचालित किये जा रहे हैं। भारत में आज समाचारों के लाईव टेलिकास्ट दिखाना सामान्य बात हो गयी है। दिलचस्प तथ्य तो यह है कि जिस तरह हिन्दी न्यूज चैनलों की संख्या बढ़ी है- इससे हिन्दी भाषी क्षेत्र में हिन्दी समाचार पत्रों का प्रसार भी लगातार बढ़ रहा है। अतः हिन्दी भाषी क्षेत्रों मे साक्षरता बढ़ी है और बढ़ी हुई साक्षरता

से हिन्दी समाचार पत्रों और न्यूज चैनलों दोनों माध्यमों के विस्तार में आसानी हुई है। डी.टी. एच. से टेलीविजन प्रसारण की क्वालिटी में सुधार से जनता संतुष्ट हुई है।

हिन्दी भाषा का इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में मनोरंजन और न्यूज चैनल्स में सामान्य उपयोग के साथ विज्ञापन में हिन्दी भारत की विज्ञापन इंडस्ट्री का प्रतिनिधित्व करती हैं। आज भारत में व्यापार बढ़ाने के लिए सभी मल्टीनेशनल कम्पनियाँ हिन्दी में विज्ञापन बनवाने के लिए मजबूर हैं। भारत में आज सभी आधुनिक उत्पादों के विज्ञापन हिन्दी में प्रसारित किये जा रहे हैं। महंगी कारों, ए.सी., वाटर प्यूरीफायर, कम्प्यूटर, लैपटॉप, कैमरा, एल.सी.डी., ब्रांडिड वस्त्रों, चाकलेट, सीमेन्ट, मोबाइल फोन, सौन्दर्य प्रसाधन, घरेलू उपयोग की सभी जरूरत की चीजों के विज्ञापन आज हिन्दी भाषा में प्रसारित किये जाते हैं। व्यावसायिक विज्ञापनों में हिन्दी की आम बोलचाल की छवि दिखाई देती है, और हिन्दी के लिए हिन्दी में निर्मित और प्रसारित विज्ञापनों के स्लोगन पूरे देश में लोकप्रिय होते रहते हैं। विज्ञापन के साथ-साथ हिन्दी विज्ञापन फिल्में थोड़े से समय में अपने संदेश देने के साथ-साथ मनोरंजन भी करती हैं। यह मनोरंजन बोलचाल की भाषा में होने के कारण लोकप्रियता भी प्राप्त करता है। जो उत्पाद की बिक्री में सहायक सिद्ध होता है।

हिन्दी सिनेमा इंडस्ट्री विश्व सिनेमा में अपनी लोकप्रियता और व्यवसायिकता के बल पर हॉलीवुड के बराबर की है। भारतीय सिनेमा का मतलब ही हिन्दी सिनेमा है। हिन्दी सिनेमा की व्यवसायिकता की पकड़ सम्पूर्ण भारत में है और इसका कारण हिन्दी भाषा में फिल्म निर्माण। सिनेमा केवल मनोरंजन ही नहीं करता वह दूसरे व्यवसायों को भी फलने-फूलने में मदद करता है। ''जनसंचार के अन्य साधनों में जहाँ भारत अन्य विकसित देशों की तुलना में कई दशक पीछे रह गया था, वहाँ फिल्म मीडिया के सन्दर्भ में भारत ने अनेक विकसित देशों को पीछे कर दिया है।''[4] भारत में स्त्री-पुरुष खासकर युवाओं में हिन्दी फिल्मों से फैशन का प्रसार होता है। और भारत में छोटी इंडस्ट्री हिन्दी फिल्मों के हिट फैशन पर बाजार में सौन्दर्य प्रसाधन, साड़ी, वस्त्र आदि का बाजार हिन्दी सिनेमामय हो जाता है। संगीत भी भारत में हिन्दी प्लेबैक से होते हुए आज एक बड़ा बाजार बना चुका है। हिन्दी फिल्मों, गीत और वीडियो का भारत में सबसे बड़ा बाजार है। गज़लों, रीमिक्स आदि में हिन्दी एक जन भाषा के रूप में लगातार बढ़ रही है। अतः हिन्दी भाषा के अनेक रूप हैं। ''मनुष्य के हृदय में प्रवेश करने का सबसे अच्छा रास्ता उसका पेट है परन्तु मनुष्य के मस्तिष्क में प्रवेश करने का सबसे अच्छा रास्ता उसकी आँखें और कान हैं।''[5] सिनेमा भारत के लोगों को शिक्षा सूचना और मनोरंजन तीनों रूपों में सहायक सिद्ध हुआ है। हिन्दी का किसी से विरोध नहीं है। हिन्दी के दरवाजे सभी भारतीय भाषाओं सहित विश्व की सभी भाषाओं के शब्दों, ध्वनियों के लिए खुले हैं। हिन्दी को किसी भाषा से परहेज नहीं और न हिन्दी का किसी भी प्रकार की शुद्धता परिनिष्ठितता का दावा है

हिन्दी भारत की सभी क्षेत्रीय भाषाओं, बोलियों सहित विश्व की महत्त्वपूर्ण भाषाओं के शब्दों को बेझिझक अपने में शामिल करती है और हिन्दी का यही गुण हिन्दी को भविष्य में विश्व की सबसे लोकप्रिय जन-भाषा बना सकता है। हिन्दी भाषा इंडस्ट्री का क्षेत्र विश्व की महत्त्वपूर्ण बड़ी भाषाओं से कम नहीं है। हिन्दी भाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। हिन्दी आज व्यवसायिक शिक्षण प्रशिक्षण की अनदेखी से जूझ रही है। हिन्दी भाषा का बाजार अंग्रेजी भाषी लोगों के हाथ में है जिसमें हिन्दी का स्लोगन लेखक मात्र कुछ हजार में स्लोगन लिख देता है और उसी स्लोगन को अंग्रेजी विज्ञापन कम्पनी फिल्म बनाकर करोड़ों रुपये का लाभ अर्जित कर लेती है। "शिक्षाप्रद फिल्मों का निर्माण आम जनों में किसी विशेष प्रकार की चेतना के प्रचार-प्रसार के लिए किया जाता है। इन फिल्मों से सामान्य जन की चेतना को नया दृष्टिकोण मिलता है। आओ पढ़ाएँ, कुछ कर दिखाएँ जैसी शिक्षाप्रद फिल्मों ने साक्षरता अभियान में बढ़ावा दिया।"[6] अतः हिन्दी भाषा में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, प्रिंट मीडिया, और हिन्दी विज्ञापन, शिक्षण प्रशिक्षण के नाम पर हिन्दी भाषी जनसंख्या और हिन्दी का बाजार देखते हुए सुविधाओं की कमी है। हिन्दी मीडिया के सभी माध्यमों के अच्छे शिक्षण, प्रशिक्षण संस्थान भारत में खोले जाएँ तो हिन्दी भाषा के व्यवसाय में और निखार आयेगा।

हिन्दी भाषा जिन क्षेत्रीय बोलियों के ऊपर अपनी सभ्य भाषा का स्थान बनाये हुए है, अब हिन्दी की उन क्षेत्रीय बोलियों में भी न्यूज चैनल, मनोरंजन चैनल दिखायी देना शुरू हो गये हैं। आने वाले समय में हिन्दी की सहायक बोलियाँ भी सेटेलाइट से समाचार और मनोरंजन लेकर उतरने की तैयारी मे हैं। क्षेत्रीय भाषाओं के प्रसार से बोलियों का भला होगा, बोलियाँ विलुप्त होने से बच पायेंगी और हिन्दी की बोलियों का अस्तित्व बचा रहेगा तो हिन्दी की क्षमता और बढ़ेगी, क्योंकि हिन्दी अपनी अनेक सहायक बोलियों की प्रतिनिधि बोली ही है। हिन्दी का प्रारंभिक नाम खड़ी-बोली ही है। भोजपुरी, मैथिली, पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी शौरसेनी, पहाड़ी, बुन्देली, ब्रजभाषा, अवधी आदि से मिलकर एक बोलचाल की भाषा के प्रतिनिधि रूप को खड़ी-बोली कहा गया है। खड़ी बोली का उद्‌भव और विकास, व्यापार, बाजार की जरूरतों से ही हुआ था। स्वतंत्रता संग्राम की चुनौती ने खड़ी-बोली को भारत की सबसे लोकप्रिय भाषा बना दिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण भट्‌ट, प्रतापनारायण मिश्र, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, प्रेमचंद, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी आदि हिन्दी के सभी कवियों, लेखकों ने खड़ी-बोली में साहित्य रचना कर खड़ी-बोली को साहित्य भाषा के साथ-साथ जन भाषा बना दिया। अट्‌ठारह सौ सत्तावन के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से खड़ी-बोली का आरम्भ माना जाता है। इन डेढ़ सौ वर्षों में खड़ी-बोली के पक्षधर गाँधी भी हुए जिन्होंने सम्पूर्ण भारत की जनता का नेतृत्व किया। अतः यदि हम कहें कि भारत में आजादी की जंग किस भाषा को हथियार बनाकर लड़ी गई,

तो यह निर्विवाद सत्य है कि भारत की आजादी का संघर्ष भारत की सभी क्षेत्रीय भाषाओं ने अपनी पूरी ताकत के साथ किया लेकिन भारत की आजादी की निर्णायक लड़ाई खड़ी बोली हिन्दी द्वारा ही लड़ी गई। एक राष्ट्रभाषा के तौर पर रवीन्द्रनाथ टैगोर, नेताजी सुभाषचन्द बोस, भगत सिंह, महात्मा गाँधी सभी ने खड़ी-बोली को अपनाया और हिन्दी पत्रकारिता में गणेशशंकर विद्यार्थी, गाँधी, माखनलाल चतुर्वेदी, माधवराव सप्रे, तिलक, मदनमोहन मालवीय आदि ने अपनी महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी निभाई। पंडित जुगल किशोर शुक्ल ने उदंत मार्तण्ड से जो हिन्दी पत्रकारिता का आरंभ किया था, आज वही हिन्दी पत्रकारिता जिसने अंग्रेजी सत्ता से भारत को आजादी प्राप्त कराने में सभी राष्ट्रीय नेताओं के अनुरूप भारत में जनमत बनाया, आज वही हिन्दी पत्रकारिता और हिन्दी का इलेक्ट्रॉनिक मीडिया दोनों भारत को एक भेदभावहीन समतामूलक जनतांत्रिक देश बनाने की तरफ ले जा रहे हैं जिसमें सम्पूर्ण भारतीय समाज के मन में राजनैतिक जनतंत्र के समान सामाजिक जनतंत्र भी होगा। यहीं से भारत में सामाजिक समानता की शुरुआत होगी। राजनीति में सत्ता ने सारे भेदभाव त्यागकर भारत को एक कर दिया। इसी तरह समाज में जीने के साधन और आगे बढ़ने की ललक सारे भारत को एक भेदभावहीन समाज बना देगी। ''आण्विक शक्ति के विकास के बाद इंटरनेट बीसवीं सदी की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। विभिन्न उपकरणों से युक्त यह क्रान्तिकारी माध्यम सूचना के सबसे तेज प्रवाह का जरिया बन गया है। पिछली सदी के अंतिम दौर में यह प्रौद्योगिकी मानव जीवन के एकीकरण के मार्ग में अड़चन बनी हुई थी।''[7] तरक्की की तरफ दौड़ता असल इंडिया यह है जो सही दिशा में दौड़ रहा है। और इसमें ब्रेक है ही नहीं, इसलिये इसी में यात्रा करना हमारी मजबूरी है। इस तरह हिन्दी का इतिहास और विकास खड़ी बोली का इतिहास और विकास है। ''समाचार पत्र एक ऐसी लोक-संसद है जिसका सत्र दिन-रात, आठों पहर, चौबीसों घंटे चलता रहता है और जिसके द्वार हर-एक के लिए खुले हैं।''[8] हिन्दी भाषा आज भी भारतीय समाज में व्याप्त विषमताओं, भेदभावों का निराकरण अपने सक्षम मीडिया तंत्र प्रिंट और इलेक्ट्रानिक के साथ हिन्दी-सिनेमा के द्वारा कर रही है। अतः भारतीय समाज में जाति की बेड़ियाँ हिन्दी के मीडिया सच के द्वारा तोड़ी जा रही हैं। हिन्दी, आज हिन्दी के तत्समवादी साहित्यकारों के हाथ से फिसल गयी है। वह मीडिया के इशारे पर चल रही है। ''कभी नेपोलियन ने कहा था कि हजारों संगीनों की तुलना में तीन विरोधी अखबारों से अधिक डरना चाहिए, इस सदी के मीडिया परिदृश्य में अब यह कहा जा सकता है, सैकड़ों बमों की तुलना में एक टेलीविजन चैनल ज्यादा खतरनाक सिद्ध हो सकता है।''[9] और भारत की राष्ट्रीय एकता, भारत की एक साझा सोच बनाने का काम मीडिया की हिन्दी कर रही है। कठिन भाषा से हिन्दी लगातार सरलता की ओर बहे जा रही है, देश के अहिन्दी भाषी समाजों को ऐसी हिन्दी ही जोड़ सकती है। आज देश के एक जनमत निर्माण के लिए देश की बहुसंख्यक जनता का एक भाषा में सोचना और बोलना जरूरी है। तभी भारत की सदियों से चली आ

रहीं समस्याएँ जो संवैधानिक प्रावधानों से भी समाप्त नहीं हुई, आज मीडिया बिना हो हल्ला के उन पेचीदा समस्याओं को हमारे जेहन से साफ करने का काम केन्द्रीय रूप में हिन्दी भाषा के माध्यम से कर रहा है। आज उच्च शिक्षित व्यक्ति भी जातिगत भेदभाव को मानते हैं। माइक पर भले ही बड़ी-बड़ी बातें कर लें लेकिन जातिवाद, ऊँच-नीच का भेदभाव गहरे में कहीं न कहीं उच्च शिक्षित समाज में भी सम्मिलित है। अमानवीयता का यह जहर यदि हमारे समाज के भीतर है तो उसे साफ करने का काम मीडिया की चुनौती है। भाषा की झाड़ू से मीडिया ही हमारे जातिवादी ब्रेन में सफाई कर पायेगी। कोई साहित्य नहीं। समाज की सोच-समझ में बदलाव दिखाई दे रहे हैं। बदलाव की यह केन्द्रीय भूमिका हिन्दी निभा रही है। ''यदि कोई भविष्य बताने का साहस करे तो वह यह भी कह सकता है कि भविष्य में उत्तर भारत की जो भाषा राजकाज या साहित्य की भाषा बनेगी, वह ऐसी भाषा होगी जो उर्दू की भाँति अरबी, फारसी से कम प्रभावित होगी, साथ ही उसमें वर्तमान हिंदी की अपेक्षा संस्कृत तथा प्राकृत के शब्द भी कम रहेंगे''।[10] हिन्दी मीडिया की भाषा की पहुँच पकड़ भारत में सर्वाधिक है। अतः मीडिया की हिन्दी का मार्ग और मिशन साहित्य के लक्ष्य से ज्यादा चुनौती भरा और जरूरी है। यह काम कठिन है लेकिन मीडिया ने इसे करना प्रारंभ कर दिया है। साहित्य दर्पण दिखाता है और मीडिया उस दर्पण में समाज कैसा दिखना चाहिए यह बताता है। हिन्दी समाचार पत्र, न्यूज चैनल, हिन्दी फिल्में आज निर्गुण पंथ की तरह आम आदमी के हक में सत्ता और खास वर्ग से संघर्ष कर रहे हैं। हिन्दी भाषा अपने सभी रूपों में जनतंत्र की जंग को समाज के जरूरी स्तर पर आगे बढ़ा रही हैं। आमजन की समझ से संचार क्रांति का रिश्ता मजबूत करने वाली मीडिया की हिन्दी एक नयी भाषा है, जिसे समझने के लिए किसी डिक्शनरी या व्याकरण की जरूरत नहीं। तुलसीदास की रामचरितमानस पर सवाल उठाये गये हैं, खासकर तुलसी के दलित विरोधी होने की बात कहकर। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि तुलसीदास ने (रामचरितमानस) संसार में सबसे बड़ा अपमान जातिवाद को ही माना था। तुलसीदास ने रामचरितमानस में गरीबी, निर्धनता और जातिगत अपमान को जीवन का सबसे बड़ा दुख और अभिशाप माना है। जैसे-

''जद्यपि जग दारून दुख नानां।

सब तें कठिन जाति अवमाना।।''[11]

अतः तुलसी पर दलित विरोधी होने का आरोप थोपना उचित नहीं।

अतः मीडिया ने एक नये समाजशास्त्र का निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है, जिसमें जात-पाँत, छूआछूत, सम्प्रदाय इत्यादि के लिए कोई जगह नहीं है। वह धर्मनिरेपक्ष

ढंग से कार्य कर रहा है, इसलिए समाज के उत्थान में मीडिया ने अपने दायित्व का बखूबी निर्वहन किया है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 9407533511

सन्दर्भ I :

1. *आधुनिक पत्रकारिता एवं संचार कार्य (भूमिका), डॉ. अनिल के राय अंकित/यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन 7/30 अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली, पृ. 1।*
2. *सम्प्रेषणमूलक हिन्दी, डॉ. रामप्रकाश/डॉ. दिनेश गुप्त, प्रकाशन शोरा कोठी, सब्जी मण्डी दिल्ली 110007 पृ. 72 ।*
3. *समकालीन मीडिया विमर्श, संपादक, डॉ. राकेश शर्मा चालाक और हमलवार मीडिया- रामशरण जोशी प्रकाशक कृष्णा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स व्ही, टी. सागर प्रकाशन (सं. 2007) पृ. 01 ।*
4. *'आधुनिक पत्रकारिता एवं संचार कार्य' डॉ. अनिल के. रॉय, अंकित प्रकाशन : दरिया गंज, नई दिल्ली पृ. 62, 71 ।*
5. *आधुनिक पत्रकारिता एवं संचार कार्य, डॉ. अनिल के.राय अंकित प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली पृ. 62 ।*
6. *पत्रकारिता का इतिहास, लेखक- प्रियंका बधवा यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन नई दिल्ली (2007) पृ. 154 ।*
7. *इंटरनेट पत्रकारिता, लेखक- सुरेश कुमार, तक्षशिला प्रकाशन 98 ए, हिन्दी पार्क दरियागंज नई दिल्ली (2004) पृ. 01 ।*
8. *प्रयोजन मूलक हिन्दी, डॉ. रामप्रकाश, डॉ. दिनेश गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली (1991) पृ. 97 ।*
9. *'चालाक और हमलावर मीडिया', रामशरण जोशी, सं. डॉ. राकेश शर्मा, कृष्णा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स, सागर (2007) पृ. 01 ।*
10. *राजभाषा हिन्दी, लेखक- कैलाशचन्द्र भाटिया, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण-1994 पृ. 17 ।*
11. *रामचरितमानस, तुलसीदास, प्रकाशन- नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (बालकाण्ड, दोहे क्र. 62-63)।*

आर.टी.आई. अधिनियम और मीडिया

अलीम अहमद खान

हमें इस बात का गर्व है कि हम भारत के नागरिक हैं। हमारा देश विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक राष्ट्र है। भारतीय संविधान ने देश के प्रत्येक नागरिक को विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार दिया है परन्तु स्वतंत्रता के लगभग 67 वर्षों के बाद भी परिस्थितियाँ आज भी चिन्तनीय है। यों आर.टी.आई. अधिनियम के लागू हो जाने के बाद स्थितियों में काफी कुछ परिवर्तन आया है। यह लेख सूचना के अधिकार के बाद आई जागरूकता और उसका समाज पर पड़ने वाला प्रभाव तथा मीडिया जगत के लोगों को काम करने में आई सुविधा और सफलता पर केन्द्रित है। जैसा कि हम सब जानते हैं कि मीडिया का कार्य लोगों को सूचित करना, शिक्षित करना और मनोरंजन प्रदान करना है।

आर.टी.आई. अधिनियम को मूल रूप से संविधान की धारा 19 (1) के तहत मूलभूत अधिकार का दर्जा दिया गया है। प्रत्येक नागरिक को यह जानने का अधिकार है कि सरकार किस प्रकार कार्य करती है। नागरिक करों का भुगतान करता है अतः उसका यह जानने का अधिकार भी है कि उसके द्वारा कर में दी गई राशि का उपयोग किस तरह किया गया है। आर.टी.आई. अधिनियम को जन-जन तक पहुँचाने में जन-माध्यमों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यही मूल कारण है कि आज बड़ी-बड़ी परियोजनाओं से लेकर छोटी-छोटी विकास योजनाओं और उनके खर्चों पर आम जनता की नजर है। आर.टी.आई. कार्यकर्त्ताओं ने इस अधिनियम का लाभ लेकर कई मामले समाज के सामने लाये हैं। मीडिया की समाज में गहरी पैठ है सूचना के अधिकार अधिनियम, 2005 के बारे में जो जानकारी आम जनता में है उसकी मूल वजह जनता को उसके अधिकार से मीडिया ने ही परिचित कराया है। देश की राजधानी दिल्ली से लेकर दूर दराज के गाँव में भी आज आर.टी.आई. कार्यकर्त्ता मिल जायेंगे। आर.टी.आई. के द्वारा कई मामलों में ऐसी जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं जो इस अधिनियम के बनने के पहले और लागू होने के पहले मिलना असंभव था। इस अधिनियम के बनने से पहले अधिकांश सरकारी कार्यालय और उपक्रम ''गोपनीयता'' के आवरण के आधार पर जानकारी देने से मना कर देते थे। विशेषकर शासकीय कार्यालय, शासकीय गुप्त बात अधिनियम 1923 के आधार पर जानकारी उपलब्ध नहीं कराते थे। इसके कारण सरकारी धन का कहाँ कैसे प्रयोग हो रहा है

इस बात की जानकारी आम लोगों को नहीं हो पाती थी। गोपनीयता की आड़ में सरकारी धन की लूट और बंदरबांट आम थी। इस कानून के आने के बाद सरकारी तंत्र में पुराना खेल बंद हो गया हो यह भी नहीं हुआ है। हाँ, इस अधिनियम का यह लाभ जरूर हुआ है कि सामने वाला व्यक्ति अर्थात जो सरकारी धन का दुरुपयोग कर रहा है उसे यह जानकारी है कि आज नहीं तो कल यह सारी जानकारी कोई प्राप्त कर सकता है। यदि उसने कहीं गड़बड़ की तो परिणाम बहुत गंभीर होंगे। अनेक विभागों की गडबड़ियाँ आर.टी.आई. के द्वारा सामने आई हैं। भारत में जनजागरूकता में मीडिया की प्रभावी भूमिका जानने हेतु हमें इसकी संक्षिप्त व्याख्या करने की आवश्यकता है।

भारत में प्रिंट मीडिया की व्यापक पैठ है। भारत में 29 जनवरी, 1780 को पहला अखबार 'हिकी गजट' कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। 29 जनवरी, 1780 से 29 जनवरी, 2014 तक के काल में भारतीय पत्रकारिता ने 234 वर्षों का सफर तय कर लिया है। इस बात से सब परिचित हैं कि कुछ अपवादों को छोड़कर भारतीय पत्रकारिता ने आम आदमी के मामलों को गंभीरता से उठाया है। भारतीय पत्रकारिता के आदिपत्र 'हिकी गजट' के संपादक ने उस समय के गवर्नर जनरल की गलत नीतियों के भण्डाफोड़ में कोई कसर नहीं छोड़ी। तत्कालीन गवर्नर जनरल के विरोध के समाचार भी उन्होंने अपने पत्र 'हिकी गजट' जिसे हम 'कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर' के नाम से भी जानते हैं, में प्रकाशित किये। यह बात अलग थी कि हिकी को गवर्नर के विरोध की कीमत चुकानी पड़ी। ब्रिटिश हुकूमत की आँख की किरकिरी थे- भारतीय पत्रकार। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में पत्रकारिता का जो योगदान है वह खुलकर सामने नहीं आया है। जिस समय हम अँग्रजों के अधीन थे उस समय भी पत्रकारों ने सरकार के विरोध में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी भले ही वे सताये गये हों प्रताड़ित किये गये हों। उसके बाद के दौर में भी सरकार और पत्रकारों का विभिन्न विषयों पर गतिरोध रहा। आपातकाल के समय भी तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरा जी के विरोध में भी पत्रकार खड़े हुये इसके परिणाम भी हम सबके सामने हैं।

रेडियो, टेलीविजन की भी समाज में गहरी पैठ है। समाज को सूचित करने, शिक्षित करने और मनोरंजन प्रदान करने का काम मीडिया का है। राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय स्तर के नेटवर्क के द्वारा सामाजिक सरोकार की खबरें आम जनता तक पहुँचती हैं। आर.टी.आई. से अनेक कामों की जानकारियाँ हमारे सामने आई हैं। वहीं पर अनेक पत्रकारों/आर.टी.आई. कार्यकर्त्ताओं को अपनी जान की बाजी भी लगानी पड़ी है। देश के विभिन्न प्रांतों में कई आर.टी.आई. कार्यकर्त्ताओं की हत्या कर दी गई। जिनके नाम सामने आये वे मामले तो लोगों के सामने हैं परन्तु जो मामले सामने नहीं आये वे लोग लापताओं की श्रेणी में शामिल कर लिये गये।

-असिस्टेण्ट प्रोफेसर
संचार एवं पत्रकारिता विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 9425171929

दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्थापक कुलपति सर हरीसिंह गौर

अभय सिंघई

सर्वविदित है कि डॉ. हरीसिंह गौर, सागर विश्वविद्यालय के पहले नागपुर विश्वविद्यालय के कुलपति और दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्थापक कुलपति रहे हैं। वह इन विश्वविद्यालयों की विकास यात्रा में महत्त्वपूर्ण सहयात्री रहे हैं। परन्तु कम लोग जानते है कि डॉ. गौर का दिल्ली विश्वविद्यालय की स्थापना में अतुलनीय योगदान रहा है। दिल्ली विश्वविद्यालय के जन्म की अन्तर्कथा निम्नानुसार है।

वास्तव में दिल्ली विश्वविद्यालय की स्थापना का बीज तो जॉर्ज पंचम की सन् 1911 के दिल्ली दरबार में की गई इस घोषणा के साथ ही पड़ गया था जिसमें उन्होंने देश की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली लाने का इरादा जताया था। दिल्ली दरबार की इस घोषणा के उपरान्त सर्वप्रथम सेन्ट स्टीफेंस महाविद्यालय के शिक्षकों के बीच ही यह उत्कंठा जागी कि दिल्ली में विश्वविद्यालय होना चाहिए। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध से उत्पन्न अस्थिरता के कारण विश्वविद्यालय की स्थापना का विचार आगे नहीं बढ़ाया जा सका। आरंभ में शासकीय पक्ष दिल्ली में विश्वविद्यालय खोलने की अपेक्षा शासकीय महाविद्यालय खोलने के पक्ष में था। परन्तु दिल्ली में पूर्व से स्थापित महाविद्यालयों के प्राचार्यों सर्व श्री एस.के. रुद्र (सेन्ट स्टीफेंस), एन.वी. थडानी (हिन्दू), ए.टी. गिडवानी (रामजस) ने विश्वविद्यालय खोले जाने हेतु माहौल बनाना आरंभ किया। इसी दौरान कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन, जिसके अध्यक्ष माइकेल सदलर थे ने एकीकृत शिक्षा पर अपनी अनुशंसायें प्रकाशित कीं जिससे दिल्ली में एकीकृत शिक्षा हेतु विश्वविद्यालय खोले जाने की गंभीर आवश्यकता प्रतिपादित हुई। इसी से प्रेरित हो दिसम्बर, 1919 में दिल्ली के मुख्य आयुक्त ने दिल्ली स्थित तीनों महाविद्यालयों के प्राचार्यों एवं मुख्य अभियंता के साथ एक बैठक कर दिल्ली में विश्वविद्यालय की स्थापना हेतु प्रस्ताव पारित किया।

यह प्रस्ताव दिल्ली के कुछ शिक्षकों को उनकी स्वायत्तता को कम करने वाला प्रतीत हुआ। अतः 25 जून, 1921 को हिन्दू महाविद्यालय के एन.बी. थडानी, लाला शिवनारायण, लाला प्यारेलाल, एस.के. सेन, सेन्ट स्टीफेंस महाविद्यालय के एफ.एफ. मोन्क, एस.एन. मुकर्जी, सी.एच.सी. शार्प तथा रामजस महाविद्यालय के लाला केदारनाथ एवं एन.डी. गुरबक्सानी आदि

ने एक बैठक कर शिक्षा सचिव को यह सलाह दी कि विश्वविद्यालय की स्थापना हेतु बनाये जाने वाले ड्राफ्ट बिल से पूर्व महाविद्यालयों को विश्वास में लिया जाये एवं विश्वविद्यालय के विभिन्न प्रशासकीय निकायों में दो तिहाई सदस्य महाविद्यालयों से लिए जाने की व्यवस्था रखी जावे।

प्रस्तावित बिल पर शिक्षा सचिव मिस्टर शार्प द्वारा सुझाव दिया गया कि विश्वविद्यालय का नाम प्रिंस ऑफ वेल्स यूनिवर्सिटी रखा जाए ताकि इंग्लैंड के राजा को इसके शिलान्यास हेतु बुलाया जा सके। माननीय शैक्षणिक सदस्य का भी यही विचार था कि विश्वविद्यालय की नींव प्रिंस ऑफ वेल्स के हाथों ही रखी जाए। परन्तु वित्तीय सदस्य इस हेतु तैयार नहीं थे। क्योंकि वे इस बात से आश्वस्त नहीं थे कि विश्वविद्यालय को आर्थिक अनुदान मिलता रहेगा। उनका विचार था कि शिलान्यास समारोह तथा विश्वविद्यालय का नामकरण तब तक न किया जाए जब तक कि इसके लिए आर्थिक स्रोत न ढूँढ लिए जाएँ। उनके अनुसार आर्थिक स्रोत पूरी तरह तय हो जाने तक विश्वविद्यालय की शुरूआत नहीं की जानी चाहिए। अन्ततोगत्वा उन्होंने विश्वविद्यालय के बजट हेतु 75 हजार रुपयों का प्रावधान रखा। इसका एक कारण यह था कि उन्हें बतलाया गया था कि असहयोगी राष्ट्रवादी लोग दिल्ली में सम्भवतः एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय खोलना चाहते हैं। जबकि वायसराय की कार्यसमिति के ब्रिटिश सदस्य दिल्ली में विश्वविद्यालय खोले जाने के या तो विरूद्ध थे या वे इसके प्रति उदासीन थे। कार्यसमिति के भारतीय सदस्यों में कुछ सदस्य जो दिल्ली में विश्वविद्यालय खोले जाने के पक्षधर थे उनमें श्री बी.एन. शर्मा, सर तेज बहादुर सप्रू तथा मोहम्मद शफी के नाम उल्लेखनीय हैं। सर तेज बहादुर सप्रू चाहते थे कि दिल्ली विश्वविद्यालय अलग प्रकार का हो जिसका प्रारूप ढाका विश्वविद्यालय से अलग हो। वे चाहते थे कि दिल्ली विश्वविद्यालय में विज्ञान तथा वाणिज्य विषयों के अध्ययन पर जोर डाला जाए। क्योंकि उनके अनुसार कानून तथा कला विषयों के स्नातकों की भीड़ खड़ी करने का कोई औचित्य नहीं । उनके अनुसार विश्वविद्यालय 75 हजार रूपए प्रतिवर्ष के अनुदान के बिना नहीं खोला जा सकता था।

शैक्षणिक सदस्य मोहम्मद शफी समिति के यूरोपीय सदस्यों के रवैये से निराश थे जिनका उन्हें समर्थन चाहिए था इसलिए उन्होंने उठाई गई आपत्तियों का प्रत्युत्तर देने का प्रयास किया। उनका तर्क था कि विश्वविद्यालय न खोले जाने के राजनैतिक खतरे हैं। क्योंकि मोहम्मद अली अपने राष्ट्रीय विश्वविद्यालय को अलीगढ़ से दिल्ली में स्थानान्तरित करना चाह रहे हैं। इस तरह वे असहयोगियों से एक कदम आगे निकलकर हवा का रुख अपनी ओर करना चाहते हैं। मोहम्मद शफी के अनुसार इम्पीरियल राजधानी (दिल्ली) के मर्म स्थल पर राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की उपस्थिति एक शरारतपूर्ण प्रस्ताव था। वे सर मालकॉम हैली के इस विचार से भी सहमत नहीं थे कि हिन्दुस्तान में विश्वविद्यालयों की संख्या बहुत ज्यादा है। अतः नया विश्वविद्यालय नहीं बनाया जाना चाहिए। ब्रिटिश भारत में तब तक केवल 11 विश्वविद्यालय थे जिनमें से दो निजी स्तर पर खोले गए थे। उनका विचार था कि जब ब्रिट्रेन में 5 करोड़ की आबादी पर 18 विश्वविद्यालय, फ्रांस में 4 करोड़ की आबादी पर 16 विश्वविद्यालय, जर्मनी में

6 करोड़ की आबादी पर 23 विश्वविद्यालय एवं जापान में 5.5 करोड़ पर 16 विश्वविद्यालय है तब भारत में 25 करोड़ की आबादी पर 11 विश्वविद्यालयों को अधिक कैसे कहा जा सकता है। उस समय पंजाब विश्वविद्यालय, पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश तथा दिल्ली की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, जिसकी कुल जनसंख्या 3 करोड़ थी। अतः जनता में, समाचार पत्रों में तथा विधानसभा में इसी बात पर जोर दिया जाता था कि विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ाई जाए। भारत शासन पर प्रांतीय विश्वविद्यालयों का आर्थिक भार वहन करने का जिम्मा नहीं था। जबकि दिल्ली विश्वविद्यालय का प्रस्ताव सीधा केन्द्र शासन के तहत रखा गया था ताकि शासन पर यह आरोप न लगाया जा सके कि उसका ध्यान भारत में उच्च शिक्षा पर नहीं है।

बिल पर विधानसभा में बहस के दौरान महाविद्यालयों से सम्बन्धित सदस्यों ने इस बात से आश्वस्त होना चाहा कि कॉलेजों को विश्वविद्यालय शिक्षण से सीधा जोड़ा जायेगा। साथ ही उन्होंने इस चिंता को भी व्यक्त किया कि महाविद्यालयों की अपनी पहचान भी बनी रहे और विश्वविद्यालय उन्हें समाप्त ही न करे दें।

विधानसभा के भारतीय सदस्य तथा राज्य परिषद के सदस्य यह भी चाहते थे कि विश्वविद्यालय की समितियों में गैर सरकारी सदस्यों का भी समुचित प्रतिनिधित्व रहे तथा उन्हें हर स्थान पर चुनाव द्वारा समितियों में भेजा जाए और शासन का नियंत्रण कम से कम हो।

बिल को सात सदस्यों की एक संयुक्त चयन समिति के पास भेजा गया इसमें राज्य समिति के प्रतिनिधि राजा हरनाम सिंह, ए.आई. मैथ्यू, गंगानाथ झा, जुल्फीकार अलीखान, भूगरी तथा लालूभाई सामलदास तथा शैक्षणिक सदस्य मोहम्मद शफी थे जिन्हें इस समिति का अध्यक्ष बनाया गया। इस समिति में विधानसभा के ये सदस्य भी शामिल थे - सर हरीसिंह गौर, डी.पी. सर्वाधिकारी, अब्दुल कासिम, जे.पी. कोटलिंगम तथा हेनरी शार्प। समिति की रिपोर्ट को विधानसभा में प्रस्तुत किया गया तथा एक सप्ताह बाद इसे राज्य परिषद में भेजा गया। चार सदस्यों की असहमति को भी रिपोर्ट में दर्ज किया गया। अब्दुल कासिम चाहते थे कि समिति के एक तिहाई चुने हुए सदस्य मुस्लिम हों। वी.जी. काले, डी. पी. सर्वाधिकारी और लालूभाई सामलदास ने कुलाधिपति को दिए गए स्वयंभू अधिकारों पर टिप्पणी की। इन सभी सदस्यो ने विश्वविद्यालय की स्वयत्तता की वकालत की।

दिल्ली विश्वविद्यालय बिल इम्पीरियल लेजिस्लेटिव असैम्बली में 16 जनवरी, 1922 को शिक्षा सचिव द्वारा रखा गया था। विधान सभा तथा राज्य परिषद दोनों सदनों में इस बिल पर लम्बी बहस हुई। कई संशोधन प्रस्ताव लाए गये जो कि पारित नहीं हो सके। अन्त में विधानसभा ने इस बिल को 22 फरवरी, 1922 को तथा राज्य परिषद ने इसे 28 फरवरी, 1922 को पारित कर दिया। वायसराय ने इस पर अपनी मुहर 5 मार्च, 1922 को लगाई। इस तरह दिल्ली विश्वविद्यालय की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य था एकीकृत शिक्षण तथा एक आवासीय विश्वविद्यालय जिस पर भारत शासन का पूर्ण नियंत्रण हो तथा वायसराय इसके कुलाधिपति हों।

बिल के अनुसार कुलपति की नियुक्ति कुलाधिपति द्वारा की जानी थी। विश्वविद्यालय की सामान्य प्रशासनिक समितियों में कोर्ट, कार्य समिति तथा शिक्षा समिति प्रस्तावित थीं। दिल्ली को इसके लिए उपयुक्त केन्द्र माना गया क्योंकि यह ब्रिटिश भारत की शीतकालीन राजधानी थी और यहाँ पहले ही तीन कला महाविद्यालय और लेडी हार्डिंग चिकित्सा महाविद्यालय स्थापित थे। दिल्ली विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा दिल्ली के महाविद्यालयों की मान्यता समाप्त की जानी थी। स्थापित महाविद्यालयों को अपना नाम रखने तथा अपने कर्मचारी नियुक्त करने की छूट थी लेकिन महाविद्यालयों के शिक्षकों को मान्यता देने का अधिकार विश्वविद्यालय के पास था। महाविद्यालयों को विस्थापित नहीं किया जाना था। लेकिन परिवर्तन की प्रक्रिया को धीरे-धीरे चलाया जाना था।

महाविद्यालयों के प्राचार्यों से चर्चा के उपरांत काउन्सिल के गवर्नर जनरल ने निर्देश दिया कि विश्वविद्यालय अधिनियम को 1 मई, 1922 से लागू किया जाए और इस आशय की अधिसूचना 6 अप्रैल, 1922 को जारी कर दी गई।

वायसराय लॉर्ड रीडिंग प्रथम कुलाधिपति तथा नागपुर के प्रतिष्ठित बेरिस्टर सर हरीसिंह गौर प्रथम कुलपति नियुक्त हुए। उस समय कुलपति का पद अवैतनिक तथा अंश-कालिक था। शैक्षणिक सदस्य सर मोहम्मद शफी को प्रतिकुलाधिपति, कैम्ब्रिज मिशन के एफ.जे. वेस्टर्न को रैक्टर, “एसोसिएटिड प्रैस ऑफ इण्डिया” के के.सी. राय को खजान्ची तथा जी.एम.डी. सूफी को रजिस्ट्रार नियुक्त किया गया।

प्रारंभ में दो संकायों - कला संकाय तथा विज्ञान संकाय की स्थापना हुई। दिल्ली के कुछ प्रतिष्ठित नागरिकों द्वारा 1923 में आवेदन किए जाने पर 1924 में विधि संकाय की स्थापना की गई। इस संकाय में कुल 18 शिक्षक थे तथा शैक्षणिक कार्य पूर्वान्ह में ही किया जाता था। सेन्ट स्टीफन कॉलेज के रेवरेन्ड फादर पी.एन. एफ. यंग को कला संकाय का तथा इसी कॉलेज के श्री खूब राम को विज्ञान संकाय का अधिष्ठाता नियुक्त किया गया। हिन्दू कॉलेज के प्राचार्य श्री एन.वी. थडानी को प्रॉक्टर तथा खान बहादुर मोहम्मद हुसैन को पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त किया गया।

गवर्नर जनरल ने कुलाधिपति की हैसियत से 21 सदस्यीय कार्यकारिणी समिति की स्थापना की। मई तथा जून, 1922 में कार्य समिति की कई बैठकें हुईं जिसमें अस्थाई रूप से विश्वविद्यालय की स्थापना के औपचारिक रूप दिया गया। शिक्षा समिति, प्रवेश समिति तथा वित्त समिति, तीनों का गठन जून, 1922 में किया गया। दिल्ली के तीनों छात्र महाविद्यालयों को विश्वविद्यालयीन महाविद्यालय का दर्जा दिया गया। इन महाविद्यालयों के शिक्षकों को भी विश्वविद्यालयीन शिक्षकों की मान्यता प्रदान की गई। दिल्ली विश्वविद्यालय की प्रथम परीक्षाएँ वर्ष 1923 में पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा करवाई गईं। दिल्ली विश्वविद्यालय ने कला तथा वाणिज्य संकायों की परीक्षाएँ सर्वप्रथम अप्रैल, 1924 में आयोजित कीं।

स्थापना के तुरंत बाद ही विश्वविद्यालय के अस्तित्त्व को खतरा पैदा हो गया। सितम्बर,

1922 सत्र के विधानसभा सत्र के दौरान, विश्वविद्यालय के खर्च को कम करने के लिए एक छँटनी समिति का गठन किया गया। इस समिति का उद्देश्य था केन्द्र सरकार के खर्चों को कम करना। इस समिति के अध्यक्ष वार्ड इंचकेप ने अपनी रिपोर्ट में अनुशंसा की कि उत्तर भारत में विश्वविद्यालयीन शिक्षा सुविधाओं की कोई कमी नहीं है और वर्तमान वित्तीय हालत में नए विश्वविद्यालय की स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः समिति अनुशंसा करती है कि दिल्ली विश्वविद्यालय योजना को स्थगित कर दिया जाए। लेकिन विश्वविद्यालय के कुलपति सर हरीसिंह गौर ने इस मुद्दे पर सख्त रुख अख्तियार किया तथा मई, 1923 में दिल्ली विश्वविद्यालय के अस्तित्व को बचाने के लिए शासन को एक ज्ञापन दिया जिस पर सर हरीसिंह गौर के अलावा रैक्टर एफ.एफ. मांक, हिन्दू महाविद्यालय के एन.वी. थडानी तथा रामजस महाविद्यालय के केदारनाथ ने संयुक्त हस्ताक्षर किए। ज्ञापन में शासन से यह आशा की गई कि वह नवजात शिशु (दिल्ली विश्वविद्यालय) की हत्या न करें तथा एक स्वस्थ्य नई शुरूआत करें। ज्ञापन में यह भी बताया गया कि रंगून तथा लखनऊ विश्वविद्यालय की शुरूआत 1920 तथा 1921 में क्रमशः 17 तथा 31 स्नातकों के साथ की गई थी जबकि दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रारंभ से ही 308 स्नातक पंजीकृत थे। ज्ञापन को इम्पीरियल लेजिस्लेटर तथा दिल्ली के प्रमुख नागरिकों का समर्थन था। इस तरह 1923 में इम्पीरियल विधानसभा ने दिल्ली विश्वविद्यालय को चालू रखने के प्रस्ताव को एकमत से पारित किया और दिल्ली विश्वविद्यालय पर उसके जन्म के साथ ही गहराया हुआ संकट टल गया तथा उसे एक नया जीवन मिल गया। यद्यपि अनुदान को 75000 रूपये से घटाकर प्रथमतः 50000 रुपये तथा बाद में 40000 रू. कर दिया गया।

प्रारंभ में विश्वविद्यालय के लिए अपना कोई स्थान नहीं था। हालांकि वर्ष 1914 में नई राजधानी की योजना में रायसीना क्षेत्र के 200 एकड़ के एक प्लाट को विश्वविद्यालय हेतु दर्शाया गया था। परन्तु मूलतः विश्वविद्यालय की शुरूआत कश्मीरी गेट स्थित रिट्ज सिनेमा से हुई। उस समय इस स्थान पर सांपों की भरमार थी। दिल्ली विश्वविद्यालय कार्यालय पहले अण्डरहिल रोड पर बना। बाद में 1 अक्तूबर, 1924 को इसे अलीपुर रोड स्थित कर्जन हाऊस में 1,000/- रुपया मासिक किराया देकर स्थापित किया गया। दक्षिण दिशा के सामने के कमरों में पुस्तकालय तथा कार्यालय और उत्तर दिशा में स्थित कमरों का इस्तेमाल बैठकों तथा व्याख्यान कक्षों के लिए होता था। भवन की उत्तरी भुजा में विश्वविद्यालय विधि हाल तथा दक्षिण दिशा में हिन्दू महाविद्यालय के छात्रवास थे। विधि संकाय के रहवासी छात्रों हेतु 20 कमरों का एक भवन आवंटित था। कर्जन हाऊस को सितम्बर 1926 में खाली करना पड़ा क्योंकि समयावधि समाप्त हो चुकी थी और मालिक ने उसे दुबारा किराये पर देने से मना कर दिया था। अतः भारत सरकार ने पुराने सचिवालय भवन के मध्य हिस्से को जिसमें लेजिस्लेटिव असैम्बली हाल तथा साथ के कमरे शामिल थे, विश्वविद्यालय को 350 रु. मासिक किराए पर लिया। असैम्बली हाल, दीक्षांत समारोह, बैठकों व अन्य दूसरे समारोहों के लिए प्रयोग में लिए जाते थे। विश्वविद्यालय के कार्यालय एवं पुस्तकालय शेष कमरों में थे। विश्वविद्यालय 'लॉ हाल'

को पहले कर्जन हाऊस में स्थापित किया गया। लेकिन उसकी समयावधि समाप्त होने पर, अक्तूबर, 1926 मे विश्वविद्यालय ने तीन बंगले लिए जिसमें 40 विद्यार्थियों की व्यवस्था के अलावा, व्याख्यान कक्ष, सार्वजनिक कक्ष तथा छात्रावास संरक्षक का निवास था, परन्तु यह भवन उपयुक्त नहीं हुए और इसलिए अप्रैल, 1927 में एलीसन होटल में 15/- रु. प्रति कमरे के हिसाब से 25 कमरे किराए पर लेने आवश्यक हो गए। पहासु के नबाव साहब ने भी जुलाई, 1927 में उदारतापूर्वक 6, अलीपुर रोड पर स्थित अपना बंगला विश्वविद्यालय के उपयोग हेतु कुछ समय के लिए दिया।

विश्वविद्यालय का प्रथम दीक्षांत समारोह 26 मार्च, 1923 के लेजिस्लेटिव असैम्बली हॉल में हुआ। कार्यक्रमानुसार एक शानदान समारोह मनाया गया। मंच पर कुलाधिपति, कुलपति तथा प्रतिकुलाधिपति चमकदार-शानदार चोलों में, कार्यसमिति के सदस्यों के साथ सुशोभित थे। समारोह कक्ष के फर्श पर पंजीकृत स्नातक तथा कोर्ट के सदस्यगण शानदार अकादमिक परिधान में दर्शकों से अलग नजर आ रहे थे। इस अवसर पर कुलाधिपति अर्ल आफ रीडिंग, कुलपति सर हरीसिंह गौर, प्रतिकुलाधिपति सर मोहम्मद शफी को मानद डिग्रियों से भी सम्मानित किया गया।

अपने दीक्षांत भाषण में कुलाधिपति ने कहा कि इम्पीरियल राजधानी में विश्वविद्यालय की स्थापना भारत की राजधानी को कलकता से दिल्ली लाने की योजना का एक हिस्सा है। उनके अनुसार यह निर्णय सही तथा उपयुक्त था क्योंकि भारत की इम्पीरीयल राजधानी की कल्पना बिना विश्वविद्यालय के असम्भव थी। दिल्ली का इतिहास राज्य और साम्राज्यों से भरा पड़ा है। दिल्ली विश्वविद्यालय एक विहार (मठ) है जो उसके आस-पास के लिए स्नातक पैदा करेगी।

कुलपति सर हरीसिंह गौर ने अपने दीक्षांत भाषण में कहा कि यह महज संयोग नहीं है कि नई दिल्ली अब न केवल पुनर्जीवित व संगठित भारत की इम्पीरियल राजधानी है, बल्कि अपनी स्वतंत्रता तथा स्वतंत्र विचारों का केन्द्र तथा एक उभरते हुए राष्ट्र का प्रतीक है। इसलिए यहां एक ऐसे नए विश्वविद्यालय की शुरूआत होनी चाहिए जो देश की नई अभिलाषाओं की पूर्ति हेतु मार्ग दर्शक बने। सर हरीसिंह गौर के उत्ताधिकारी जैसे सर अब्दुर रहमान, सर मोतीसागर, सर मोहम्मद शफी और राय बहादुर राय किशोर भी उन्हीं की तरह बार काउंसिल या न्यायपीठ के वरिष्ठ सदस्य थे। ये सभी आगे चलकर दिल्ली विश्वविद्यालय के अवैतनिक कुलपति रहे।

-प्रोफेसर, फार्मेसी विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मो. 9425613685

बैरकों के दिन

कान्तिकुमार जैन

सागर विश्वविद्यालय की विधिवत स्थापना 18 जुलाई, 1946 को हुई थी। भारत सरकार के रक्षा मंत्रालय से डॉ. हरीसिंह गौर ने मकरोनिया स्थित मिलिट्री की बैरकें प्राप्त कर ली थीं, इन्हीं बैरकों में कार्यालय भी थे, कक्षाएँ भी, प्रयोगशालाएँ और छात्रावास भी। सागर शहर से लगभग पाँच किलोमीटर दूर मकरोनिया ग्राम के पास ये बैरकें एक पठार पर थीं। बायीं ओर गंभीरिया की घाटी और सामने मकरोनिया गाँव। कुछ लोग मानते हैं कि यह गाँव किसी मैक्रोन नामक अँग्रेज अफसर ने बसाया था पर यह गलत है। सागर से देवरी जाने वाले मार्ग पर एक पहाड़ी थी जिस पर मकोरे की झाड़ियों की भरमार थी। कई विद्यार्थी सूर्यास्त के समय इस मकरोनिया पहाड़ी पर जातेसूर्यास्त का दृश्य देखने और मकोरे खाने के लिए। मकोरे बुन्देलखण्ड का ख़ास जंगली फल है, छोटे करौंदे से मिलता जुलता। दूर से मकरोनिया की पहाड़ी पहाड़ी जैसी लगती पर एक बार पहाड़ी के ऊपर पहुँच भर जाओ, समतल मैदानवहाँ से सागर का जलाशय बड़ा रमणीक लगता। वहाँ से हम लोग लौटते मकरोनिया गाँव के भीतर से होते हुए। गाँव के पास विश्वविद्यालय का वनस्पति विज्ञान विभाग था। रेल्वे क्रीपर से ढँका हुआ ग्रीन हाऊस था। उसके बाद प्राणी विज्ञान की प्रयोगशाला। फिर हॉकी का मैदान। गंभीरिया की घाटी की ढलान पर बिना दरवाजों के एसवैस्टास के शौचालय। बहुत फैला हुआ बैरकी छात्रावास। तीन चार बैरकों के बीच में यूरीनल। मिलिट्री की ऑफीसर्स मेस को कुलपति कार्यालय के रूप में परिवर्तित कर लिया गया था। इसी कार्यालय में कुलसचिव बैठते, उपकुलसचिव भी।

मकरोनिया की बैरकों के दिन बेहद अभावों और असुविधाओं के दिन थे। विश्वविद्यालय कैम्पस में कहीं कुछ भी नहीं मिलता था। न कागज, न पेंसिल। यदि एक दस्ता कागज भी खरीदना हो तो पाँच मील दूर कटरा तक जाओ, वह भी पाँव पैदल या फिर नगर में रहने वाले किसी मित्र से कहो कि यार, कल जब विश्वविद्यालय आने लगो तो चीप स्टोर्स या बिल्कीज़ से एक ठो एच.बी. की पैंसिल लेते आना। शहर में न तो कोई स्टेशनरी की दुकान थी, न किताबों की। बाद में विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी केदारनाथ साथी ने पुस्तकों की एक दुकान भीतर बाजार के मुहाने पर खोली तो विश्वविद्यालय के बहुत से अध्यापक और विद्यार्थी उस

दुकान पर बैठने लगे। साथी बुक डिपो। बाद में 'साथी' ने अपनी दुकान मेन रोड पर शिफ्ट कर ली- कटरा पुलिस चौकी के थोड़ा पहिले। 'साथी' जी ने बाद में पुस्तक बिक्री के साथ-साथ पुस्तक प्रकाशन का काम भी प्रारंभ किया। विश्वविद्यालय के विभिन्न पाठ्यक्रमों में चलने वाली पाठ्यपुस्तकें। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' साथी बुक डिपो ने ही छापा था। डॉ. रामरतन भटनागर की सागर विश्वविद्यालय में निर्धारित होने वाली पाठ्यपुस्तकों के प्रकाशक भी 'साथी' जी ही थे। अशोक वाजपेयी के आग्रह पर वे मुक्तिबोध की पुस्तक 'नयी कविता का आत्म संघर्ष' छापने को तैयार हो गये थे पर वह छप नहीं पाई।

विश्वविद्यालय कैम्पस में पुस्तकों और स्टेशनरी की पहिली दुकान खोलने का श्रेय बतरा जी को है। बतरा पंजाबी थे मोना पंजाबी। वे विद्यार्थियों से अभीप्सित पुस्तकों के नाम ले लेते और उन पुस्तकों को यूनिवर्सल बुक डिपो में मँगवाते। यूनिवर्सल बुक डिपो हिन्दी क्षेत्र में पुस्तक प्रतिष्ठानों का बड़ा पसंदीदा नाम था। वे कापियाँ भी रखते, स्याही और स्याही सोख़्ता भी। उनकी दुकान मुख्य कार्यालय को मेन रोड से जोड़ने वाली सड़क पर कोने में थी। आने वाले छात्र वहाँ रुकते थे तो कुछ खरीदते या क्रय की जाने वाली प्रस्तावित वस्तु को बतरा साहब की डायरी में नोट करवा देते। हफ्ते भर में वह वस्तु यूनिवर्सल बुक डिपो में आ जाती। मैंने एक बार वहाँ से 200 पन्नों की एक रूलदार कापी खरीदी थी। शिवकुमार श्रीवास्तव भी वहाँ खड़े थे, उन्होंने उस कापी पर लिखा 'प्रिय कान्ति को उसी के पैसे से स्नेहोपहार।' वह कापी आज भी मेरे पास है।

विश्वविद्यालय छात्रावास में आने वाले व्यक्तियों में यदि कोई सबसे स्वागतेय था तो वह तोताराम सिंधी था। मंझोले कद का, गोरा-चिट्टा, सिर पर कलगी वाला साफा बाँधे। तीन बजे के आसपास तोताराम अपनी साइकिल के साथ आते, साइकिल के दोनों ओर भारी-भारी झोले टँगे होते, पीछे कैरियर पर एक टोकरी बंधी होती। इसमें बिस्किट, पेस्ट्री, नानखटाई, ब्रेड, क्रीम रोल, चूड़ा जैसी खाने-पीने की चीजें होतीं। एक बैरक से दूसरी बैरक तक तोताराम पैदल ही आते, साइकिल की घंटी बजाते हुए। हम लोग अपनी-अपनी बैरकों से निकल आते। सामने वाली बैरक की पिछली दीवार पर तोताराम की स्वादपूर्ण साइकिल टिकी हुई है, हम लोग उसकी साइकिल के आगे-पीछे भीड़ लगाये हुए हैं 'तोताराम- दो पेस्ट्री, चूड़ा और एक क्रीमरोल देना।' जिन छात्रों की रोजनदारी चलती थी, उन्हें रोज के रोज पैसे नहीं देने पड़ते थे। आप तोताराम की उधारी की डायरी में अपने नाम वाले पन्ने में अपनी लिखावट में आइटम का नाम दर्ज कर दीजिये। महीने के आख़िर में तोताराम जी उनके नाम की सभी प्रविष्टियों का परीक्षण करेंगे और महीने भर का मीजान हो जायेगा। हम लोग दो-दो बैरक आगे चलकर तोताराम की साइकिल को घेर लेते, क्या पता हमारी बैरक तक आते-आते सारा माल खल्लास हो जाये।

विश्वविद्यालय परिसर में धीरे-धीरे चार कैंटीने हो गईं। बनर्जी कैंटीन सबसे पहिली कैंटीन थी। एक बंगाली सज्जन इसके संचालक थे। नगर में कटरा में उनकी एक कैंटीन थी

यूनिवर्सल कैंटीन। म्यूनिसिपल हाईस्कूल के बगल में। खूब चलती। कुछ तो चाय-समोसे की गुणवत्ता के कारण, कुछ बनर्जी मोशाय के मधुर व्यवहार के कारण। विश्वविद्यालय प्रारंभ हुआ तो यूनिवर्सल कैंटीन की एक शाखा बैनर्जी कैंटीन के नाम से कैंपस में खुल गई। दोपहर में एक बजे तक वहाँ खाना मिलता। एक बजे से पाँच बजे तक चाय-नाश्ता। फिर पाँच बजे के बाद रात का भोजन। नियमित भोजनार्थियों को साठ रुपये काउंटर पर जमा करवाने होते। प्रतिदिन सुबह शाम खाने की मेज पर बैठने के पहिले आप काउंटर पर जायें और बनर्जी साहब आपके नाम के सामने एक √ लगा देंगे। रात को दूसरा। जिस दिन खाना नहीं खाया है, उस दिन का पैसा अगले माह के खाते में जमा हो जायेगा। दोनों वक्त के खाने में अनुपस्थिति की छूट मिलती, एक वक्त की नहीं।

दूसरी कैंटीन जैन कैंटीन थी। गजाधर प्रसाद जैन की। उनके छोटे भाई बाजार से आटा, दाल, साग-सब्जी लाने में उनकी मदद करते। वे चाचा जी कहलाते। चाचाजी का पुत्र बालकिशन भी जैन कैंटीन की व्यवस्था रखने में मदद करता। इस कैंटीन में प्याज, लहसुन का प्रयोग नहीं होता था। अधिकांश जैन लड़के इसी कैंटीन में भोजन करते। इस कैंटीन में खाने वाले विद्यार्थी खेलकूद के मैदान में कम ही देखे जाते। जो समय खेलने का होता उसमें आप पेट भर रहे होंगे तो खेलेंगे कब? जैन लड़के अंथौ करतेसूर्य अस्त होने से पहिले किया जाने वाला भोजन। ये लड़के पीतल की छोटी-छोटी कटोरियों में शुद्ध घी लेकर मेस पहुँचते। भोजन समाप्त होने पर मेस सर्वेंट से अपनी डबुलिया धुलवाते और वापिस कमरे में। गजाधर प्रसाद जी बड़े ही उदार स्वभाव के थे। वे विद्यार्थियों की आर्थिक सहायता भी करते। कलकत्ता के साहू जैन ट्रस्ट से उनका अनुबंध था जिसके अंतर्गत वे मेधावी छात्रों को मासिक वृत्ति भी देते। पर शर्त यही कि आप उन्हीं की कैंटीन के सदस्य हों। बाद में ओशो के नाम से विश्वविख्यात आचार्य रजनीश ने भी जैन कैंटीन को ही अपनी भोजनचर्या के लिए चुना। जैन साहब का एक शगल और था। कहते हैं माह में एक बार सब्जी में वे एक बादाम या एक छुहाड़ा या एक काजू डलवाते। जिस कटोरी में यह मेवा मिलता उसे माह भर निःशुल्क भोजन की सुविधा मिलती। इस विधि से उनके यहाँ की सब्जी भोजनार्थी बड़े चाव से खाते। रस ले लेकर।

1951 की जुलाई में गर्मी की छुट्टियों के बाद जब हम लोग विश्वविद्यालय आये तो तोताराम कैंटीन खुल चुकी थी। औडिटोरियम के पास की एक लम्बी बैरक में। तोताराम ने अपने श्रम और सूझबूझ से दो-तीन वर्षों में इतना कमा लिया था कि वे पेस्ट्री और क्रीमरोल की चल दुपहिया दुकान के स्थान पर एक स्थायी कैंटीन खोल सके। तोताराम का यह संस्करण हमें बहुत अच्छा लगा। आपने किसी सिंधी या पंजाबी को निठल्ला नहीं देखा होगा। जो 1947 में यहाँ शरणार्थी बनकर आये थे उन्होंने स्वयं को पुरुषार्थी बनकर दिखा दिया। उन दिनों ये शरणार्थी सबेरे 100 रुपये में 100 किलो शक्कर का बोरा खरीदते और दिनभर में 1.00 रुपये किलो की दर से पूरे का पूरा बेच लेता। इस हिसाब से दिन भर में उसे क्या मिला? उत्तर एक बोरा। इसी धैर्य और श्रम साधना से तोताराम ने खूब तरक्की की। उसकी कैंटीन में जो

चाय बनती उसमें इलायची पड़ी होती। कपों के ऊपर एल्यूमीनियम की छोटी-छोटी तश्तरियाँ ढकी होतीं ताकि चाय रसोई घर से टेबिल तक आते आते ठंडी न हो जाये। फिर तो विश्वविद्यालय में जो भी सेमिनार होते, अतिथि आते, सबके खानपान का ठेका तोताराम कैंटीन को ही मिलता। विद्यापुरम् में मेरे पड़ोस में एक कृपलानी परिवार रहता है। वह तोताराम को जानता है। उसके सदस्य बताते हैं कि तोताराम जी आज भी वैसे ही हँसमुख, विनम्र और मिष्ट भाषी हैं जैसे 50-52 में थे।

रामसिंह कैंटीन उन दिनों विश्वविद्यालय की सबसे नयी कैंटीन हुआ करती थी। रामसिंह सेना का पुराना ठेकेदार था- उसने अपनी कैंटीन का नाम रखा तलवार कैंटीन पर सब उसे रामसिंह कैंटीन ही कहते। अपना काम निकालने मेें रामसिंह कुशल थे। उसे नयी कैंटीन का ठेका नहीं मिल रहा था- एक सबेरे एक ट्रक जलाऊ लकड़ी, एक बोरा आटा, एक बोरा चावल और पाँच कद्दू वार्डन साहब के बंगले के सामने रखे मिले। ऐसे को कृपालु जग माँही। डॉ. रसाल विश्वविद्यालय के छात्रावासों के चीफ वार्डन थे। सबेरे जब रामसिंह अपने इस कृत्य की टोह लेने वार्डन साहब के बंगले के सामने टहल रहे थे तब झीना-झीना लाल गमछा लपेटे 'रसाल' साहब ने उसे इशारे से बुलाया 'हम समझ गये कि यह सब तुम्हारी ही कारस्तानी है पर यह तो बताओ कि बिना तेल के, बिना हल्दी मिर्चा के खाना बनेगा कैसे? और तुम्हारा ये कद्दू हम कै दिना खायेंगे?' रामसिंह चतुर आदमी थे। सब समझ गये। घंटे भर मे माचिस का एक पुड़ा, मह-मह करता धनिया, पिसी मिर्ची, हल्दी वगैरह भी वार्डन साहब के बंगले पर पहुँच गयी। रसाल साहब रामसिंह से खुश रहते। अक्सर कैंटीन में मिलने वाली कच्ची रोटियों, अधबनी दाल की जब हम लोग शिकायत करने जाते तो वे कहते, बाबू, जब तुम पढ़ने के लिये घर से सागर के लिए रवाना हुए तो तुम्हारी महतारी ने तुमसे क्या कहा था? बेटा, वहाँ खूब मन लगाकर पढ़ना। तो बेटा, अपनी महतारी की कही मानो, खूब पढ़ो और जब दीवाली में घर जाना तो महतारी के हाथों की कड़क रोटी और घुटी हुई दाल खाना।

हम लोगों ने अपने वार्डन साहब से रामसिंह की शिकायत करना छोड़ दिया था। धीरे-धीरे तलवार कैंटीन के भोजनार्थियों की संख्या घटने लगी। अंततः तलवार कैंटीन का इतिहास में नाम भर रह गया।

उन दिनों विश्वविद्यालय का पुस्तकालय सबेरे 9 बजे से रात के 9 बजे तक खुला रहता। इतवार के दिन भी। लाइब्रेरियन डॉ. बनवारी लाल पाठक को मैंने जब भी देखा पुस्तकों के ढेर से घिरे हुए देखा। सामने मेज, दायें मेज, बायें मेज, उन पर नई पुस्तकों की थप्पियाँ। कुर्सी पर बैठे हुए डॉ. पाठक नई आई हुई पुस्तकों का वर्गीकरण कर रहे हैं, उनका एक्सेशन कर रहे हैंइंडियन इंक से। हम लोग दबे पाँव उनके कक्ष में पहुँचते - वे सिर उठाते क्या बात है? सर, एक नई किताब आई है 'नोट्स फ्राम दा गैलोज़, जुलियस फ्यूचिक की। पढ़ना चाहते हैं। वे न खिसियाते, न गुस्सा होते। कहते 'कल आ जाइये पुस्तक इश्यू होने के लिए तैयार मिलेगी।' फिर वे सहायक ग्रंथपाल सुरेन्द्र तिवारी को बुलाते 'देखिये, सारी प्रक्रिया

आज ही पूरी हो जानी चाहिए कल यह पुस्तक ये इश्यू करवाना चाहते हैं।' डॉ. पाठक थे तो उर्दू, फारसी के अध्यापक पर उनकी कीर्ति लाइब्रेरियन के रूप में ही थी। पुस्तकालय नया-नया प्रारंभ हुआ था पर एकदम व्यवस्थित। पत्र-पत्रिकाएँ आती, साथ ही अंतर्राष्ट्रीय जर्नल भी। डॉ. पाठक ने विश्वविद्यालय के पुस्तकालय को जो ठोस आकार दिया, वह अभी भी कायम है।

डॉ. परती संभवतः डॉ. ओंकार नाथ परती क्रीड़ा प्रतियोगिताओं की शोभा हुआ करते। गोरे चिट्टे, सुदर्शन। घुँघराले केश। जब भी कोई क्रीड़ा प्रतियोगिता होती, वे अपने धारीदार सूट और उसी सूट के कपड़े की ऊँची टोपी धारण किये हुए कमेंट्रेटर बॉक्स में बैठते। एक तख्त, उस पर एक कुर्सी, सामने माइक्रोफोन। उनकी आवाज दूर तक गूँजती। उसी तख्त के बगल में एक तख्त और होता, उस पर बेंत की एक कुर्सी होती, कुलपति डॉ. गौर के लिए। वे प्रतियोगिता देखने आ तो जाते पर उनका मन खेल के मैदान में नहीं होता। विश्वविद्यालय के भविष्य की रूपरेखा बनाने के सपने उनकी आँखों में तैरते। उन्हें पता था कि उनके पास समय कम है और बहुत से काम किये जाने हैं।

विश्वविद्यालय में क्रिकेट का कोई ग्राउंड नहीं था। क्रिकेट सागर विश्वविद्यालय का पसंदीदा खेल था भी नहीं। विश्वविद्यालय का प्रिय खेल था हॉकी। हॉकी के एक से एक खिलाड़ी विश्वविद्यालय में मौजूद थे। छोटे मियाँ, लतीफ, मज़ीद शहर में रहते; प्रफुल्ल, आर.डी. मिश्र, किशोर खत्री, राम शंकर मिश्र, छुट्टन छात्रावास में। छोटे मियाँ छोटे-छोटे पास देने में माहिर थे। वे एक हाथ से हॉकी से पास दे रहे होते, दूसरे हाथ से मुँह से बत्तीसी निकाल कर दर्शकों का मनोरंजन कर रहे होते। फुटबाल भी खेली जाती पर कम। वॉलीबाल के लिए तो हम छात्रावासी अपनी अपनी बैरकों के सामने दो खंभे गाड़ लेते, खेलकूद विभाग से नेट ले लेते और शाम को वॉलीबाल खेलते। वॉलीबाल को कश्मीर से आये चांद नारायण काचरू ने नाम दिया था हस्त क्रीड़ा कंदुक। शारीरिक सौष्ठव के लिए एक जिम्नेशियम भी था। डॉ. राम प्रसाद त्रिपाठी जिम्नेशियम के प्रति बड़े उत्साहित थे। एक फिजीकल ट्रेनिंग इंस्ट्रक्टर की नियुक्ति हुई थीअब्राहम साहब। फिर महिला पी.टी.आई के रूप में मिस कौर आयीं तिलोत्तमा कौर। बेहद सधा हुआ शरीर। उनकी चाल जैसे सधी हुई कमान का तीर। शाम को छात्रावासियों का सबसे प्रिय शगल थापेंटागान तक घूमना। चार-चार, छह-छह के गिरोह में छात्रावासी पेंटागान तक घूमने निकलते। पेंटागान नाम शायद द्वितीय महायुद्ध के समय मकरोनिया के मिलिटरी हेड क्वार्टर को दिया गया था फिर मिलिटरी हेडक्वार्टर द्वारा परित्यक्त होने पर पाँच मार्गों के संगम के लिए पेंटागान नाम शुरु हो गया। पेंटागान से एक सड़क कटरा की ओर जाती, एक सदर की ओर, एक जबलपुर की ओर, एक देवरी की ओर और एक विश्वविद्यालय की ओर। अब ये पाँचों मार्ग तो हैं पर इनके संगम को मकरोनिया तिगड्डा कहते हैं। क्या यह स्वतंत्र भारत में चतुर्दिक हुए ह्रास की प्रतीक कथा है? इस पेंटागानाभियान का सबसे बड़ा आकर्षण था विश्वविद्यालय के इस मार्ग पर कन्या छात्रावास का होना। छात्राएँ अपने

अपने कमरों से निकल कर अपने नगर और कक्षा के परिचित छात्रों की प्रतीक्षा करतीं। कुछ नैनमटक्का भी हो जाता, कुछ घर परिवार के कुशल क्षेम की बातें भी होतीं। जो छात्र अपने नगरों, कस्बों से अकेले आते, उनकी न कोई प्रतीक्षा करता, न ही कोई संदेश भेजता। बौद्धिक किस्म के, पढ़ाकू, मेधावी छात्र साम्यवाद या नयी कविता पर बहस करते हुए कन्या छात्रावास के सामने से गुज़र जाते। दूसरे दिन लड़कियों का उलाहना मिलता इन पढ़ंतों के लिए किताब के बाहर कुछ है ही नहीं। उनकी शिकायत वाज़िब थी। एक दिन हम लोगों ने इसका प्रतिवाद भी खोज लियापत्थर के एक टुकड़े पर कोरा कागज लपेट कर लड़कियों की रहगुजर पर फेंक दिया गया। लड़कियों ने नज़रें बचाकर उस प्रस्तर दूत को उठाया कागज खोला पर उसे कोरा पाकर वे बड़ी मायूस हुईं!

विश्वविद्यालय में मेधावी छात्रों के लिए छात्रवृत्ति का प्रावधान था। प्रथम श्रेणी में मेट्रिक उत्तीर्ण कर इंटरमीडियेट में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों को 2 वर्ष तक 10.00 रु. प्रतिमाह की छात्रवृत्ति, प्रथम श्रेणी में इंटर उत्तीर्ण करने वाले विद्यार्थियों को प्रतिमाह 15.00 रु. की छात्रवृत्ति, स्नातक की उपाधि प्राप्त करने तक दो वर्षों के लिए। फिर प्रथम श्रेणी में स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने वालों को दो वर्षों तक 20 रु. प्रतिमाह की छात्रवृत्ति। ये छात्रवृत्तियाँ पाने वाले विद्यार्थी कम ही होते। जिन्हें ये छात्रवृत्तियाँ मिलतीं, वे पूरे विश्वविद्यालय में सम्मानीय बन जाते, चर्चित। 1948 से 1955 तक इंटर, बी.ए. तथा एम.ए. के छात्र के रूप में मैं निरंतर स्कालरशिप होल्डर रहा। जब छात्रवृत्ति शाखा के प्रभारी श्री जैन से प्रतिमाह कड़कड़ाते नोट लेने मैं काउंटर पर पहुँचता तब बहुत सार्थकता की अनुभूति होती। अधिकांश अध्यापक छात्र हितैषी थे। बी.ए. की परीक्षा में मुझे प्रथम श्रेणी, प्रथम स्थान तथा स्वर्णपदक प्राप्त हुआ था। मैंने एम.ए. की उपाधि के लिए दर्शनशास्त्र विषय चुना था। मेरा आवेदन पत्र जब तत्कालीन विभागाध्यक्ष श्री शिवशंकर राय के सामने पहुँचा तब उन्होंने मुझे अपने कमरे में बुला भेजा। एक हाथ में मेरा आवेदन पत्र, दोनों आँखें मुझ पर टिकी हुईं, बोलेमैं तुम्हें दर्शनशास्त्र में एम.ए. में प्रवेश नहीं दूँगा। मैं हक्का-बक्का। जब उन्होंने मेरे मुँह पर आश्चर्य का भाव देखा तो बोले, मैं जानता हूँ कि एम.ए. में भी तुम्हें प्रथम श्रेणी मिलेगी, प्रथम स्थान भी पर उसके बाद, मैं तुम्हारी स्थिति से परिचित हूँ एम.ए. के बाद तुम्हें तत्काल नौकरी चाहिए होगी और दर्शनशास्त्र में न विश्वविद्यालय में, न किसी महाविद्यालय में ही दर्शनशास्त्र विभाग में अध्यापक का कोई पद रिक्त है। अगले दस वर्षों तक रिक्त होने की कोई संभावना भी नहीं है। तुम्हें मेरी सलाह है, ऐसे विषय लेना चाहिए जिससे तुम्हें नौकरी पाने के लिए बहुत प्रतीक्षा न करनी पड़े।

उन दिनों विश्वविद्यालयीन परीक्षाएँ अत्यंत व्यवस्थित हुआ करती थीं। न कोई नकल, न ही ऊधम। कोई अव्यवस्था नहीं। कुछ अध्यापक अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के लिए प्रसिद्ध थे। भूगर्भशास्त्र के डॉ. देहाद राय नकल पकड़ने के संबंध में बहुत उत्साही थे। वे जिस कमरे के वीक्षक होते, वहाँ नकल हो ही नहीं सकती थी। एक बार वे ऑडीटोरियम के मंच पर वीक्षक

थे, वहाँ उन्हें शक हुआ कि एक छात्रा नकल लिखकर लाई है अपने पेटी कोट पर। देहाद राय साहब के मन में न संकोच उपजा, न दया पर प्रश्न यह था कि उस छात्रा से अनुचित साधन की सामग्री प्राप्त कैसे की जाये। विश्वविद्यालय में उस समय न कोई महिला अध्यापक थी, न ही कोई महिला अधिकारी। महिला छात्रावास की अधीक्षिका श्रीमती भुवालकर थीं। गाड़ी भेजकर उन्हें ऑडीटोरियम बुलाया गया। उनकी सलाह से छात्रा के पेटी कोट की नकल लिखा हिस्सा कैंची से काटा गया और उसे उसकी उत्तर पुस्तिका के साथ नत्थी किया गया। इस घटना के बाद परीक्षा में अनुचित साधनों का प्रयोग प्रायः बंद ही हो गया।

छात्रावास में पहिली ही रात बिल्ली मेरा रास्ता काट गयी। पिताजी छात्रावास में मुझे प्रवेश दिलवाकर लौट गये थे छात्रावास के लिपिक धगट साहब ने मुझे सामने की बैरक में एक कमरा आवंटित कर दिया था। एक कुर्सी, एक मेज, एक तख्त और एक किट। किट मैंने पहिली बार देखा था। लकड़ी का बना एक चौकोर बक्सा जिसका आधा ढक्कन उसी बक्से में कीलों से ठुका था और केवल आधा ही सामने की ओर निकलता। इमलिया कुंदा। आप उसमें ताला भी बंद कर सकते थे। मिलिट्री के जवानों द्वारा परित्यक्त फर्नीचर। इस किट में हम लोग खाने का सामान रखते, चाय, दूध, स्टोव भी इसी किट में सुरक्षित रखे जाते। छात्रावास की लंबी बैरकें एस्बैस्टास की खड़ी शीटों से विभक्त थीं ये एस्बैस्टास आठ फुट ऊँचे रहे होंगे। सो एस्बैस्टास शीटों को फलांग कर वानर पूरी बैरक में आ जा सकते थे और खाने पीने का सामान चट कर सकते थे।

मेरी बैरक के अधीक्षक डॉ. डी.सी. पंड्या थे, भौतिकी के अध्यापक। वे रात को राउंड पर थे। मेरे कमरे के कपाट पर दस्तक हुई, दरवाजा खोला। सामने एक अपरिचित व्यक्ति। उन्होंने स्वयं ही बताया कि वे मेरी बैरक के सुप्रिटेण्डेंट हैं। और आप? मैंने अपना नाम बताया, कहाँ से आये हैं? कोरिया से। वे बिफर गये 'आप मुझे बेवकूफ बनाते हैं आपका चेहरा-मोहरा कोरिया-जापान वालों जैसा नहीं है।' 'जी नहीं, मैं कोरिया बैकुंठपुर का हूँ छत्तीसगढ़ का' 'आप जैसे लौंडों को ठीक करना मुझे खूब आता है' मैं लाख सफाई देता रहा पर डॉ. दिनेश चन्द्र पंड्या अंत तक यही समझते रहे कि मैं झूठ बोल रहा हूँ। मैं समझ गया कि मेरी इनसे पटेगी नहीं। मैंने निश्चय किया कि मैं अपनी बैरक बदल लूँगा जिसका सुप्रिटेण्डेंट कोई अन्य हो। दूसरे दिन तर्कशास्त्र की कक्षा में अध्यापक महोदय हम छात्रों का परिचय ले रहे थे। जब मेरी बारी आयी तो मैंने अपना नाम और धाम उन्हें बताया। कोरिया का नाम सुनकर वे भड़के नहीं, बोले अच्छा-अच्छा वही कोरिया जिसके राजकुमार इलाहाबाद में पढ़ते हैं। मैं कक्षा के बाद उनसे मिला, मैंने पिछली रात का अपना अनुभव उन्हें सुनाया, बोले तो आप मेरी बैरक में आ जाइए। मैंने वहीं एक आवेदन पत्र लिखा। उस पर उन्होंने अपनी टीप लिखी और धगट साहब ने मेरा बैरकान्तरण कर दिया।

रायसाहब से परिचय और उनकी वत्सलता सागर विश्वविद्यालय के निवास की मेरी अवधि के स्वर्णिम दिन थे। उन जैसे अध्यापक अब नहीं होते। वे कक्षा में घूम-घूम कर पढ़ाते।

उनकी जेब में सदैव दो पेन होते। एक पार्कर फिफ्टीवन, दूसरा मुटक्कड़ा मोटा। पार्कर फिफ्टीवन से वे हाजिरी लेते, मोटा मुटक्कड़ा पेन छात्रों के लिए। किसी छात्र के पेन की स्याही खत्म हो गई है और कक्षा में नोट्स लिख नहीं पा रहा है तो रायसाहब बिना माँगे अपना मोटा मुटक्कड़ा पेन उसको देते। जब तक छात्र स्थिति समझे, वे आगे बढ़ चुके होते। आत्मीयता का आतंक क्या होता है यह राय साहब को बिना जाने जाना ही नहीं जा सकता। साइमन अलैक्जेंडर निकोडिमस आज कक्षा में नहीं आये हैं। दूसरे दिन जब वे कक्षा में आये तो रायसाहब पूरी कक्षा को सुनाकर उससे कह रहे होते 'साइमन अलेक्जेंडर निकोडिमस, कल आप कक्षा में नहीं आये, मेरा मन पढ़ाने में नहीं लगा। मन पर दुश्चिन्ता सवार रही। कहीं आप अस्वस्थ तो नहीं हो गये, कहीं आप दुर्घटनाग्रस्त तो नहीं हो गये? आपके परिवार में सब सकुशल तो हैं?' बेचारे सिकंदर बहादुर पानी पानी। उसके बाद राय साहब की कक्षा में अनुपस्थित शायद ही कोई होता। रायसाहब को गुस्सा न आता हो, ऐसा नहीं है। पर गुस्सा होने का उनका ढँग विलक्षण था कोई छात्र उनका व्याख्यान ध्यान से नहीं सुन रहा है। आस पास के छात्र को डिस्टर्ब कर रहा हैराय साहब कहते'मि. सो एंड सो, नाऊ आई विल काल यू एन एस, युअर फादर ए डंकी एंड युअर संस म्यूल्स। एंड म्यूल्स कांट प्रोक्रयेट। सो प्लीज अटेंड टू दाई लेक्चर एंड डॉन्ट बी ए बर्डन आन यूअर फ्यूचर जेनरेशंस।'

000

भित्तिपत्र की परिकल्पना पंडित जी की थी पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी की। वे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। वे वाराणसी से सागर आये थे, इलाहाबाद में रह चुके थे। इन दोनों विद्याकेन्द्रों में न पत्र-पत्रिकाओं की कमी थी, न साहित्यिक मंचों की। इन नगरों के युवावर्ग को अपनी रचनात्मक ऊर्जा की अभिव्यक्ति के अवसरों की कोई कमी नहीं थी। जब 47 में पंडित जी सागर आये तो यहाँ न कोई पत्र था, न कोई पत्रिका। आकाशवाणी का केन्द्र भी नागपुर में था। रचनाकारों की कोई कमी नहीं थी पर वे छपे कहाँ, अपनी बात कहें कहाँ? पंडित जी ने भित्तिपत्र की परिकल्पना की और रचना मंच की शुरुआत हुई। हिन्दी विभाग के अध्यक्ष कक्ष के बगल वाली बैरक के बरांडे में सीमेंट का एक चबूतरा बनवाया गया, उस पर श्याम पट रखा जाने लगा। इस काले तख्ते पर छात्र-छात्राओं और अध्यापकों की भी रचनाएँ ड्राइंग पिन से कीलित की जाने लगीं। सोमवार से शुक्रवार तक ये रचनाएँ पाठकों के पठनार्थ श्याम पट पर लगी रहतीं। शनिवार को पत्रिका का नया संस्करण तैयार होता। सोमवार को भित्तपत्र नई सजधज के साथ प्रस्तुत। पंडित जी स्वयं पत्रिका के संरक्षक-संपादक थे। हिन्दी विभाग के ही एक स्नातकोत्तर छात्र नरयावली के पंडित उमाशंकर शुक्ल इसके प्रथम छात्र संपादक थे। इस श्याम पट पत्रिका को पंडित जी ने नाम दिया था भित्तिपत्र। छात्र-छात्राएँ आते जाते भित्तिपत्र के सामने ठिठकते। एक नज़र भित्तिपत्र पर डालते, दिन भर भित्तिपत्र में प्रकाशित रचनाओं की चर्चा करते। पंडित उमाशंकर शुक्ल साँवले, लंबे, प्रियदर्शन व्यक्ति थे। पंडित जी के मुँहलगे पर उनमें एक खराबी थी बेहद आत्ममुग्ध एवं आत्मविज्ञापनबाज। उनकी लिखावट बहुत ही

खराब थी। अतः उनकी लिखावट का खमियाजा उनके चित्रों को भुगतना पड़ता। हर अंक में पंडित शुक्ल उपस्थित रहते। लेखनरत चिन्तन की मुद्रा में। मित्रों से बातचीत करते हुए। पंडित जी से शिकायत की गयी कि भित्तिपत्र का हर अंक पंडित उमाशंकर शुक्ल विशेषांक होता है। दूसरों की रचनाओं को वे कोई तरजीह ही नहीं देते। जब शिकायतें बहुत बढ़ गयी तो पंडित जी को संपादक बदलना पड़ा। भित्तिपत्र का सन् 49 में नया संपादक कान्तिकुमार को बनाया गया। मेरे संपादन में निकलने वाले भित्तिपत्र का संपादकीय पंडित जी ने ही लिखा अपने पैड पर अपनी सुन्दर अभिराम हस्तलिपि में उसका पहिला वाक्य मुझे आज भी, 65 वर्षों बाद भी, स्मरण है ''देश के हृद्‌देश में स्थापित इस विश्वविद्यालय की रचनात्मक प्रतिभा के उद्दीपन एवं उद्‌घाटन का यह अभिनव प्रयास तरुणों के बीच लोकप्रिय होगा''। वह लोकप्रिय हुआ भी। रचनात्मकता की जितनी भी सरणियाँ हैं, वे सब इस भित्तिपत्र में स्थान पाने लगीं। इसमें कहानियाँ, कविताएँ, एकांकी, निबंध तो छपते ही; चित्र, छाया चित्र भी स्थान पाते थे। विश्वविद्यालय की समस्त रचनात्मक ऊर्जा का दर्पण था भित्तिपत्र। लेकिन इस दूरदराज एक कोने में स्थित बैरक में प्रदर्शित इस भित्तिपत्र के पाठक कम ही थे। मैंने इस भित्तिपत्र का प्रकाशन स्थल बदला, मुख्य ग्रंथालय के सामने जो बैरक थी, उसमें एक कक्ष गर्ल्स कॉमन रूम का भी था। विश्वविद्यालय की बैरकें असम भूमि पर बनी थीं। किंचित लंबी भी थीं, अतः लम्बाई को पार करने के लिए उनमें एक दो सीढ़ियाँ भी होती थीं। इस बैरक का उच्च समभूमि पर स्थित अंतिम कमरा अंग्रेजी का स्टाफ रूम था सीढ़ियाँ उतरते ही पहिला कमरा गर्ल्स कॉमन रूम। मैंने लक्षित किया कि विश्वविद्यालय में सबसे ज्यादा भीड़ गर्ल्स कॉमन रूम के पास ही होती थी। छात्र अपनी बांधवी से मिलने अंग्रेजी के स्टाफ रूम से हटकर सीढ़ियों पर खड़े हो जाते और बांधवी गर्ल्स कॉमन रूम से निकलकर सीढ़ी के नीचे। घंटों बातचीत चलती। विश्वविद्यालय उन दिनों जातियों में तो नहीं बट पाया था पर स्थानीयता में अवश्य आबद्ध था दमोह ग्रुप, खंडवा ग्रुप, होशंगाबाद ग्रुप। मुझे यह मिलन स्थल भित्तिपत्र के लिए आदर्श लगा। वहाँ पानी के मटकों के लिए एक चबूतरा बना था, उस पर भित्तिपत्र को मंचासीन किया गया। भित्तिपत्र अब श्याम पट पर कीलित नहीं होता था। उसके लिये श्यामपट के ही आकार का एक जालीदार बक्सा बनवाया गया। ताले की भी व्यवस्था हुई। शनिवार को सप्ताह भर में प्राप्त रचनायें इस बाक्स के भीतर कीलित की जातीं सब की सब रचनाकार की हस्तलिपि में। एक समय ऐसा भी आया जब अधिकांश रचनाएँ लगता, एक ही व्यक्ति द्वारा लिखी गयीं हैं वाजपेयी जी के हस्तलेख का अनुकरण। वाजपेयी जी की लिखावट बहुत सुंदर थी, सधी हुई, कोई बाँकपना नहीं, अति सूधी पंडित जी की लिखावट थी, यहाँ नेक सयानप बाँक नहीं था। शिवकुमार श्रीवास्तव की लिखावट, प्रताप मुखारया की लिखावट, मनोहर वर्मा की लिखावट, राजा दुबे और आग्नेय की लिखावट में भेद कोई हस्तलिपि विशेषज्ञ कर पाता तो कर पाता। मैं तो, खैर, वाजपेयी जी का छात्र ही था, उनके लेखों की प्रतिलिपि तैयार करने का काम मेरा ही था। स्थान परिवर्तन से भित्तिपत्र की लोकप्रियता खूब बढ़ गयी भित्तिपत्र एक प्रकार

से विश्वविद्यालय का गज़ट बन गया। सभी विचारधाराओं के छात्र, सभी अंचलों की सांस्कृतिक रंगत। भित्तिपत्र के रचनाकार छात्र और छात्राएँ दोनों थे। स्त्री-विमर्श की नींव सागर विश्वविद्यालय में भित्तिपत्र के कारण ही पड़ी। प्रभा श्रीवास्तव, प्रतिभा हांडा, विमला मुखारया भित्तिपत्र में लिखने लगी थीं, महादेवी छाप प्रेम और विरह के गीत। मैंने सोचा कुछ धमाका किया जाये। मैंने भित्तिपत्र में एक कविता लिखी

अबला सदा अबला रहेगी
हो नहीं यह मान्य तो वह माँग का सिंदूर पोंछे
हो नहीं यह मान्य तो वह चूड़ियों को तोड़ फेंके
त्याग मंगलसूत्र का कैसे भला वह सह सहेगी?
अबला सदा अबला रहेगी।

यह 50 के प्रारंभ की बात है। इस कविता को मैंने संपादकीय के स्थान पर छापा। प्रतिक्रिया बिल्कुल प्रत्याशित थी। विश्वविद्यालय की समस्त प्रबुद्ध छात्राएँ मेरे ख़िलाफ। प्रतिभा हांडा विशेष रूप से। वे गणित एम.एस-सी की छात्रा थीं- बी.एस-सी. की 'टापर'। बाद में आई.ए.एस में भी उनका चयन हुआ। मिले तो कहा 'तुमसे इस कदर के प्रतिक्रियावादी और स्त्री विरोधी विचारों की अपेक्षा नहीं थी।' मेरा उत्तर था 'यह भारत की स्त्री शक्ति को चुनौती है, आप सब पुरुष वर्चस्व से मुक्त क्यों नहीं होना चाहतीं? यदि आप में सबला बनने और दिखने की चाह है तो चूड़ा, टिकुला, बिंदी, सिन्दूर और मंगलसूत्र जैसे बंधनों से मुक्त होना पड़ेगा।' फिर तो जीवन और जगत के अनेक पक्षों पर भित्ति पत्रिका में विमर्श होने लगा। सामाजिक विषयों पर कविताएँ लिखी जाने लगीं। शिवकुमार श्रीवास्तव, कृष्ण कुमार श्रीवास्तव, प्रताप मुखारया, हनुमान वर्मा, मनोहर वर्मा जैसे कवि तो भित्तिपत्र के रचनाकार थे ही, महेन्द्र फुसकेले, राजा दुबे, आग्नेय जैसे कवि और रचनाकारों को भी भित्तिपत्र अपने विचारों के प्रकाशन का उर्वर मंच लगा। यह मंच 55 तक चला। 55 में मैंने विश्वविद्यालय छोड़ दिया था। पता नहीं, उसके बाद उसकी क्या नियति हुई। शायद तब तक 'जागृति', 'समवेत' जैसी अन्य पत्रिकाएँ कुछ नियतकालिक, कुछ अनियतकालिक रूप सेप्रकाशित होने लगी थीं और नगर में अशोक वाजपेयी, विट्ठलभाई, रमेश दत्त दुबे, सत्यमोहन वर्मा जैसे युवतर और ऊर्जावान छात्रों ने साहित्य का मोर्चा संभाल लिया था।

(सागर विश्वविद्यालय के प्रारंभिक वर्षों पर आधारित लेखक के संस्मरणात्मक उपन्यास 'बैरकों के दिन' के कुछ अंश)

5, विद्यापुरम, मकरोनिया कैम्प, सागर
दूरभाष- 07582-262354

चिट्ठियों के दिन

ज्योत्स्ना मिलन

कितना अच्छा था कि निर्मलजी से परिचय और दोस्ती के वे दिन अभी चिट्ठियाँ लिखने के दिन थे। चिट्ठी यानी हाथ की लिखी, असलीवाली चिट्ठी, ई-मेल वाली बिना किसी पहचान की, वर्च्युअल चिट्ठी नहीं। हाथ की लिखी हर चिट्ठी की अपनी एक अलग पहचान होती है। उसी ककहरे और बाराखड़ी से बनी होती है हर लिखावट, तब भी होती है कितनी अलग एक-दूसरी से। हर लिखावट एक अलग हाथ का अलग विस्तार, जो हाथ से अलग हो जाती है फिर भी बची रहती है हाथ की पहचान, उसमें।

लिखावट बड़ी-छोटी हो सकती है, टेढ़ी-मेढ़ी हो सकती है, सुंदर-असुंदर हो सकती है, स्पष्ट-अस्पष्ट हो सकती है, एक सी भर नहीं हो सकती। हर किसी ने अ को अलग ढंग से लिखा, मगर मज़ा यह कि जितना भी अलग लिखा हो अ को, वह कुछ और नहीं हुआ, रहा आया अ का अ ही। चाहे उसे मैंने, तुमने, मन्नाजी ने, भँवरीबाई ने, निर्मलजी ने, किसी ने भी लिखा हो, वह हर बार, हर किसी का एक अलग अ हुआ।

लिखावट से क्या किसी व्यक्ति की अलग पहचान की जा सकती है? क्या उसके व्यक्तित्व का पता लगाया जा सकता है? क्या उसे जाना जा सकता है कि वह कैसा होगा या हो सकता है अपनी कद-काठी में, बनक में, मुद्रा में, रहन-सहन में? क्या लिखने वाले के स्वभाव को उसमें पढ़ा जा सकता है? उसकी भीतरी दुनिया की झलक मिल सकती है? क्या उसकी आवाज़ को सुना-परखा जा सकता है? जाने क्यों यह विश्वास करने को मन करता है कि ऐसा ज़रूर संभव हो सकता होगा और इसकी कोई विधि भी ज़रूर होगी।

निर्मलजी के छोटे-छोटे अक्षरों से बने शब्द और वाक्य एक-दूसरे से काफी दूर-दूर होते हैं। दो शब्दों के बीच पूरा एक शब्द भर दूरी। हर शब्द के इर्द-गिर्द काफी सारी खाली जगह होती है। अपने होने और साँस लेने के लिए ज़रूरी अवकाश को लेकर ही प्रकट होते हैं उनके शब्द। उनकी सम्मोहक भाषा का रहस्य और तिलिस्म जैसे शब्दों के गिर्द के इसी अवकाश से पैदा होता है। उनके लिखे एक-एक शब्द और वाक्य ने अपने बनने में जो समय लिया वह भी खाली जगहों में मौजूद है। उनके लेखन की प्रक्रिया में समय और स्थान का अनुपात ही बदल जाता है। शब्द कम, चुप्पियाँ ज़्यादा। अपनी ही आभा में दमकते पारदर्शी शब्द, जिनमें जो है

उसके साथ-साथ जो है नहीं वह भी कौंध जाता है। मुझे नहीं लगता निर्मल जी की लिखावट जैसी वह है उसके वैसा होने में उनकी कोई सजग भूमिका रही होगी।

1958-59 में निर्मलजी को पहले-पहल पढ़ने का जादू आज भी बना हुआ है यह बात किसी चमत्कार से कम नहीं। पहली बार में ही वे मुझे अपने लिए एक ज़रूरी लेखक के रूप में मिले। मुंबईवासी मैंने दिल्लीवासी निर्मल जी से मुलाकात का सपना देखने का साहस भी नहीं किया था। मुंबई और दिल्ली के बीच की दूरी जितनी थी उससे कई गुना भीतर थी, जैसे दिल्ली कोई दूसरी दुनिया हो। उस समय अगर कोई यह भविष्यवाणी कर भी देता कि निर्मल जी और हम मुहल्ले के पड़ोसी होंगे तो मुझे ज़रा विश्वास न होता। भोपाल आ जाने के बाद मुंबई के मुकाबले दिल्ली से दूरी कम तो हुई थी, फिर भी एक दिन अचानक उसके घटकर एक मुहल्ले के पड़ोसियों के बीच की दूरी में बदल जाने की घटना तो किसी चमत्कार से सूत भर भी कम न थी। इतनी अविश्वसनीय कि अपने को भरोसा दिलाने हम हर दूसरे-तीसरे दिन पहुँच जाते निराला सृजनपीठ कि निर्मलजी सच में वहाँ हैं, लगभग पड़ोस में।

मुहल्ले के मुहल्ले में उनके चिटनुमा पत्र लेकर उन दिनों छोटेलाल अक्सर प्रकट हो जाता था 'ज्योत्स्नाजी, कुछ अस्वस्थ सा अनुभव कर रहा हूँ, आसपास कोई अच्छे डॉक्टर हों तो उनका नामपता भिजवा दीजिएगा।' या 'छोटेलाल के हाथ कुँवरनारायण का लेख भिजवा दें और छतरीयदि उसकी ज़रूरत न हो।' या 'वीरेन्द्रजी का पता भिजवा दीजिए, उन्हें आज 'कला का जोखिम' भेज रहा हूँ।'

पत्र लिखना उनके लिए इतना सहज था कि जिस संदेश को छोटेलाल मुँह-ज़बानी पहुँचा सकता था उसे वे एक पुर्ज़े पर लिख भेजते थे, वे जानते थे कि अपनी लिखावट में, शब्दों में लिखनेवाला कुछ न कुछ तो शामिल हो ही जाता है। उसकी आवाज़ उन्हीं में दुबकी सुनाई दे जाती है। इन लघुकाय पत्रों को पढ़ते हुए भी सामने खड़ा छोटेलाल भूल जा सकता था और निर्मलजी के वहीं कहीं होने का एहसास घिर आ सकता था। छोटेलाल को अक्सर अपने यहाँ खड़े होने की याद दिलानी पड़ जाती थी। फिर मैं अचानक हड़बड़ाकर अपना संदेश लिख कर छोटेलाल को थमा देती थी।

मोहल्ले का यह पत्र व्यवहार अपनी तरह को अनोखा पत्र व्यवहार था, अपने कामकाजी चरित्र के बावजूद। ये छोटे-छोटे चिट पत्र उनके पत्रों के हिस्से की तरह उनमें दुबके आए हाथ। मुझे अचरज हुआ कि वे अभी तक थे और बाकायदा थे पत्रों के बीच, पत्रों की तरह।

पिछले दिनों उनके पत्रों को देखने-पढ़ने का अनुभव उनके होने से घिर जाने का अनुभव था। पत्रों में उनका होना उनकी रचना जितना ही सघन और बेलौस होता है। जितना और जिस तरह वे अपने को रचना को देते हैं उससे जरा भी कम पत्र में नहीं देते थे। हम चारों में से हर एक के साथ उनका संबंध एक अलग संबंध था। संबंधों का यह अलगपन हर के साथ के उनके मिलने-जुलने में, बातचीत में, पत्र-लेखन में एकदम नज़र आता है। और यह भी कि दूसरे

में उनकी कितनी गहरी दिलचस्पी है। आप किसी भी तरह के संकट से गुज़र रहे होंरचना के, पारिवारिक या सामाजिक जीवन के, स्वयं जीवन के या होने मात्र के संकट से गुज़र रहे हों और आप उनकी साझेदारी चुनें तो यह असंभव है कि वे भी उस संकट से रुबरु न हों। अपने जीवन की उनसे मिलती-जुलती स्थितियों को विस्मृति के निविड़ से निकालकर चकित उन्हें देखते हैं कि इनसे वे कैसे निपटे थे? उन स्थितियों के दूसरे पहलू का पता कैसे लगाया था? इसकी पड़ताल वे करेंगे, जैसे पहली बार कर रहे हों और इस प्रक्रिया में आपको भी अपनी स्थिति का दूसरा पहलू दिखने लग जा सकता है, जिसके बूते आप उस संकट से निकल आ सकते हैं।

पत्रों में बात चाहे निजी संदर्भ से उपजे, चाहे हमारे, चाहे उनके, चाहे किसी रचना के संदर्भ से या किसी यात्रा के संदर्भ से वे उसे 'घनी झाड़ी में छिपे पक्षी को बिना आहत किये समूचा और साबुत निकाल लाने की तरह संदर्भ से बाहर खुले अवकाश में निकाल लाते थे। वह बात अपने में इतनी स्वायत्त, इतनी पूरंपूर होती कि खुद-ब-खुद साँस लेने लगती और इस प्रक्रिया में वह पारदर्शी होती जाती थी।'

एक पत्र का संदर्भ निर्मलजी की कोई रचना थी जिसे पढ़कर उससे उद्धरण देते हुए मैंने उन्हें लिखा था। यों भी उनके लेखन ने सच बोलकर उन्हें प्रसन्न करने के कई अवसर दिए थे। चकित हूँ कि एक लेखक और एक पाठक के बीच या एक लेखक और दूसरे लेखक के बीच इतना खुला, इतना पारदर्शी नाता हो सकता है। निर्मलजी के पत्रों जैसे पत्र किसी भी समय में कम ही लिखे जा सकते हैं, पढ़े मगर ऐसे पत्र कई-कई बार जाते हैं अलग-अलग स्थल और काल में। उसे पढ़ने की पहले की स्मृति को चकमा देते हुए हर बार वह एक अलग पत्र निकल आता। इस तरह उनका एक पत्र अनेक पत्रों में बदल जाता। इन पत्रों में लिखने वाले का अपना जीवन और भीतर की आँच बची रहती है, अपनी समूची आभा के साथ।

''हम जिस ज़माने में रहते हैं उसमें ऐसे पत्र दुर्लभ हो गए हैं! इसीलिए इसे बार-बार पढ़ने का लोभ संवरण न कर सका। एक तरफ अपने को बहुत 'फ्लैटर्ड' सा महसूस करता हूँ, दूसरी तरफ मन में छिपा चोर यह भी कहता है कि आपने जो जो मेरे लेखन के बारे में लिखा है उसके काबिल बनने के लिए मुझे बरसों मेहनत करनी पड़ेगी।''

यहाँ लेखक-पाठक संबंध से परे वे एक ऐसे बिंदु पर खड़े मिलते हैं जब उनके भीतर कहीं एक गह्वर सा खुल जाता है

''इसे झूठी विनम्रता मत समझिए। मैं जिस उम्र में हूँ, उसमें पिछले वर्षों का सहज विश्वास डगमगाने सा लगता है। यह भूलभुलैया की वह जगह है, जहाँ अँधेरा सबसे घना होता है, क्योंकि जिस दरवाज़े से मैं साहित्य में दाखिल हुआ था वह पीछे छूट जाता है और जिस द्वारा से मुक्ति मिलने की उम्मीद है, वह कहीं दिखाई नहीं देता। शायद इसीलिए ऐसी मनःस्थिति को कुछ संत कवियों ने 'dark nights of the soul' की संज्ञा दी थी।''

जब हम अलग-अलग शहरों में होते थे तब कभी-कभी होने वाली सामूहिक मुलाकातों

के अलावा हमारे बीच होते थे पत्रों के सूत्र। समय के लम्बे या छोटे अंतरालों से संबंध की निरन्तरता अबाधित बनी रहती। पत्रों में निर्मलजी संपूर्ण और निबिड़ एकांत की रचना कर पाते थे जिसमें संवाद हो पाता है, एक ऐसा संवाद जो दूसरे के साथ जितना होता है उससे जरा भी कम अपने साथ नहीं होता। 'शंपा'मेरी कहानी के निमित्त लिखी गई बात एक साथ अपने और दूसरे के साथ संवाद जैसी है

''मैं हमेशा यह समझता रहा हूँ कि नारी का अपनी देह से रिश्ता, संपूर्ण रिश्ता होता है, जो पुरुष को अपने शरीर से महसूस नहीं होता है, पुरुष अंततः अपनी देह का अतिक्रमण करके किसी ऊपर की अशरीरी चीज़ (आत्मा ? ईश्वर ?) पाना चाहता है, जबकि स्त्री की आत्मा स्वयं उसकी देह में पगती है, बसती हैवह स्वयं ईश्वर या आत्मा को अपनी देह से अलग नहीं कर सकती। पुरुष शरीर को divine के रास्ते पर सबसे बड़ी बाधा मानता है, स्त्री की divinity स्वयं उसकी देह की सुंदरता में वास करती है। 'शंपा' में आपने बहुत ही गहनता से इस रहस्यमय रिश्ते की परतों को खोला है।''

ऐसे पत्रों की एक अलग ही फितरत होती है। वे बीच-बीच में उचककर अमरता को छू लेने के कारण भीतर तक जगमगा जाते हैं इसीलिए यह चमत्कार घटित होता है कि जब पत्र लिखने वाला चला जाता है, जब पाने वाला चला जाता है तब भी वे रहे आते हैं, निजी संदर्भों से विलग किन्हीं दूसरों तक यात्रा करते हुए।

(स्मृतिशेष : ज्योत्स्ना मिलन(19.07.1941-04.05.2014) हिन्दी की अप्रतिम कवयित्री-कथाकार थीं। वे खूब जानती थीं कि मामूली घटना एवं परिस्थिति को कैसे एक विशेष संरचना में बाँधा जा सकता है। निर्मल जी पर लिखा उनका यह संस्मरण इसका प्रमाण है। 'भाषा भारती' परिवार की ओर से उन्हें विनम्र श्रद्धांजलि)

''सभी भारतीय भाषाओं के लिए यदि कोई एक लिपि आवश्यक हो तो वो देवनागरी ही हो सकती है।''

- जस्टिस कृष्णस्वामी अय्यर

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

कृष्णदत्त पालीवाल

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिन्दी के युगप्रवर्तक चिन्तकों में अग्रणीय रहे हैं। उनके ही प्रयत्नों से हिन्दी में नवीन विचारधारा, नवजागरण तथा स्वाधीन चिन्तन का आरम्भ हुआ। आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी गद्य तथा पद्य की पक्की व्यवस्था को अपनाया और खड़ी बोली को नए जीवन संग्राम की भाषा बनाया। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने लेखों के संग्रह 'आधुनिक साहित्य' में लिखा है ''विचारों के क्षेत्र में नई और बहुमुखी सामग्री एकत्र करने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को है, जिन्होंने हिन्दी के लिए भाषा-सम्बन्धी एक नया प्रतिमान भी प्रस्तुत किया। नए विचार-और नई भाषा-नया शरीर और नयी पोशाक दोनों ही नई हिन्दी को द्विवेदी जी की देन हैं। इसी कारण वे नई हिन्दी के प्रथम युग प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं। द्विवेदी जी और उनके साथियों का महत्त्व नए निर्माण के लिए प्रचुर और अनेक मुखी सामग्री भेंट करने में है। साहित्य के क्षेत्र में किसी एक व्यक्ति पर इतना बड़ा उत्तदायित्व इतिहास की शक्तियों ने पहली बार रखा था और पहली ही बार द्विवेदी जी ने इस उत्तरदायित्व के सफल निर्वाह का अनुपम आदर्श प्रस्तुत किया। उनकी 'सरस्वती' उस युग के समस्त ज्ञानोपयोगी ज्ञान की प्रतीक और उसके प्रचार-प्रसार का माध्यम थी। अपने समय की ऐसी प्रतिनिधि पत्रिका दूसरी नहीं देखी गई।'' (पृ.13)

प्रश्न उठता है कि अपने समय की ऐसी प्रतिनिधि पत्रिका क्यों नहीं देखी गई? इसका सीधा उत्तर तो यही है कि 'सरस्वती' का स्वरूप और उसका उद्देश्य देश-विदेश के ज्ञान-विज्ञान से हिन्दी क्षेत्र को परिचित कराना था। किसी प्राचीन रचनाकार या रचनाओं के उद्धरण, हिन्दीतर किसी अन्य भाषा के लेखकों पर लेख, इतिहास के किसी काल-विशेष का खोजपूर्ण उल्लेख, तत्कालीन किसी समृद्ध राजवंश का परिचय, प्राचीन कलाओं का सचित्र विवरण, भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति परसुदूर देशों में प्रभाव, प्राच्य या पाश्चात्य दार्शनिकवाद का परिचय, प्राचीन स्मारकों, यात्राओं, प्राकृतिक सौन्दर्य स्थलों का वर्णन कुल 'राजनीतिक'-आर्थिक प्रश्नों और समस्याओं पर सरकार से अपील, हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए लेख, महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षाएँ, समसामयिक साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों पर ध्यान दिलाना, विशिष्ट तेवर की कविता-कहानियों को ध्यान से प्रकाशित करना सन् 1901 से 1920 तक की 'सरस्वती' का अनिवार्य अंग था।

आज प्रश्न पूछा जाता है कि साहित्य-कला-अनुवाद के क्षेत्र में उनकी कौन-सी कृतियों

को याद रखा जायेगा? क्या उनके अनुवाद? 'रघुवंश', 'कुमार सम्भव सार', 'हिन्दी महाभारत', 'वेकल विचार', 'रत्नावली', 'स्वाधीनता'या उनकी स्वतन्त्र पुस्तक जिसका नाम है 'सम्पत्तिशास्त्र' जो किसी भी हिन्दी लेखक की अर्थशास्त्र पर लिखी पहली पुस्तक है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद की लूट तथा तबाही को लेकर लिखी गई यह पहली पुस्तक है। रजनीपामदत्त का 'आज का भारत' जैसी पुस्तकें बहुत बाद में आई हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य 'द्विवेदी जी' कितने जागरूक देशभक्त लेखक थे। आचार्य द्विवेदी ने ज्यादातर उपदेशात्मक कविताएँ लिखीं और जनता को जागृत करने का प्रयत्न किया। उनके लेख पढ़े-लिखे लोगों के दिमाग में गूँज उठेजैसे 'कालिदास की निरंकुशता', 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति', मिश्रबन्धु का हिन्दी कविरत्न, 'तिलक का गीता भाष्य' और ऐसे अनेक लेख और टिप्पणियाँ। उन्होंने खुली आँखों से हिन्दी के मौलिक समीक्षाशास्त्र का शिलान्यास किया। उनके युग का शायद ही कोई लेखक हो जिसके ऊपर आचार्य द्विवेदी के विचारों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव न पड़ा हो।

उनका शिष्य तो हिन्दी का अधिकांश समाज है। 'सरस्वती' में कवि-लेखकों पर उनकी कलम चलती थी और रचनाओं के सुधार-परिष्कार से वे उनकी सूरत निखार देते थे। उन्होंने इस क्षेत्र में जो भी कार्य कियावह इतनी निष्ठा से किया कि आचार्य द्विवेदी के सामने सभी का सिर झुकता रहा। गुणों के महत्त्व की स्वीकृति का नाम श्रद्धा ठीक ही है। भाषा-संस्कार हो या साहित्यिक-नेतृत्व या गद्य-पद्य दोनों की एक ही भाषा हो खड़ी बोली, उनका प्रवर्तन सहायक सिद्ध हुआ। उन्होंने इसी आधार पर साहित्य की शक्ति का उपयोग किया और उस युग की समस्त कृतियाँ युग का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखती हैं। उनका लक्ष्य था खड़ी बोली के साहित्य का उन्नयन और उसकी कृतियों की गौरव रक्षा इस तरह वह केवल भाषा-परिष्कारक ही नहीं थे, युग के नवीन विचारों, आन्दोलनों-प्रवृत्तियों के प्रवक्ता भी थे।

आज यह सोचकर आश्चर्य होता है कि कैसे आचार्य ने बीस वर्षों तक (द्विवेदी-युग) दस करोड़ हिन्दी भाषी जनता का पथ प्रदर्शन किया।

जब अवध की नवाबी के दिन बीत चुके थेतब उसी प्रान्त के दौलतपुर नामक गाँव में इनका जन्म हुआ। अवधजिस प्रदेश के ये निवासी थेउस काल में उजड़कर निरक्षरता और दरिद्रता का केन्द्र बन गया था। किन्तु प्राचीन स्मृतियाँ तो लुप्त नहीं होतीं, इसलिए प्राचीन संस्कार भी कभी सुयोग पाकर जन्म ले लेते हैं। गंगा की धारा दौलतपुर के समीप से निकल कर ही बहती है। आम्रवनों से घिरा मनोरम प्रदेश अंग्रेजी राज की लूट से तबाही भोग रहा था। इसी गाँव दौलतपुर से जन्म लेते ही 'सरस्वती' का बीज भी उनकी जीभ पर लिख दिया गया। घर-परिवार की दरिद्रता के कारण बालक महावीर प्रसाद की शिक्षा की अच्छी व्यवस्था न हो सकी। उर्दू-फारसी की शिक्षा पाठशाला में मिली और घर पर ही 'शीघ्रबोध' वाली संस्कृत का अभ्यास भी किया। फिर अँग्रेजी पढ़ने रायबरेली गए। पुरवा, उन्नाव आदि से उनकी पढ़ाई थोड़े दिन चली। घर परिवार में इतनी दरिद्रता थी कि आगे पढ़ाना बेहद कठिन था। बालक द्विवेदी पन्द्रह मील दूर रायबरेली पढ़ने पैदल जाता। हाथ से भोजन बनाना और फीस न दे पाने की नौबत। इस दरिद्रता ने बालक महावीर को पहले तो तोड़ा लेकिन बाद में दृढ़ किया। हर

मुसीबत झेलने का साहस आ गया। पढ़ाई-लिखाई का क्रम ठीक से न चलने के कारण वे पिता के पास बम्बई चले गए और रेलवे में एक नौकरी मिल गई। इसी बीच उन्होंने अँग्रेजी के साथ मराठी, गुजराती भाषा का भी ज्ञान प्राप्त किया।

नौकरी के सिलसिले में वे नागपुर और अजमेर रहे। बंबई में रहते हुए तार का काम सीखा और सीखकर जी.आई.पी. रेलवे में तार बाबू हो गए। हरदा, खण्डवा, होशंगाबाद और इटारसी में उनकी पदोन्नति होती गई। कार्य में लगन एवं एकाग्रता के कारण उन्हें टैलीग्राफ इन्स्पैक्टर बनाकर झाँसी भेजा गया। वहाँ भी लगन एवं प्रतिभा से कार्य करने के कारण इटारसी से कानपुर और आगरा से लेकर मानिकपुर तक की पूरी लाइन का तार संबंधी कार्य सीखकर बंगला सीखी। तारवर्की पर एक पुस्तक अँग्रेजी में लिखी। इस तरह द्विवेदी जी उच्चपदों पर बढ़ते गए। लेकिन एक नए साहब आये। उनसे कहा-सुनी हो गई। स्वाभिमानी द्विवेदी जी रेलवे का काम साहब को सौंपकर चल पड़े। विधाता को कुछ और ही मंजूर थाउनके पास साहित्य के संचित संस्कार थे और कलम मजबूत। कविता लिखते थे जिसमें 'लगाप', 'हटाप' की लटक थी। धीरे-धीरे उनका लोप हुआ और आगे चल पड़े। भाषा में 'कहाँ जले है वह आगी' श्रीधर पाठक लिखते थे, यह सन् 1902 की रचना है जब द्विवेदी जी हिन्दी गद्य की नई प्रणाली चला रहे थे। कुछ भी हो श्रीधर पाठक, द्विवेदी जी के प्रयोगों से खड़ी बोली फूट-फूट पड़ी। 'कविता-कलाप' में द्विवेदी युग के जिन-जिन कवियों की कविताएँ हैं सभी में रस पर कम, भाषा की सफाई पर अधिक ध्यान है। उनके शिष्य कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने सरस अनुवाद किए और कविता में देशभक्ति के भावों को विशेष स्थान दिया। द्विवेदी-युग का साहित्य खड़ीबोली का आग्रह करके आगे बढ़ रहा था। गद्य और पद्य की भाषा एक खड़ीबोली को बनाना उनका उद्देश्य था। इस तरह श्रृंगार कविता के रीतिवाद को छोड़कर कविता को नए मार्ग पर डाल दिया।

डॉ. रामविलास शर्मा ने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' की भूमिका में लिखा है कि हिन्दी प्रदेश में नवजागरण 1857 ई. के स्वाधीनता-संग्राम से शुरू होता है। इस स्वाधीनता संग्राम की पहली विशेषता यह है कि यह सारे देश की एकता को ध्यान में रखकर चलाया गया था। इस संग्राम का पूरा चरित्र सामन्त विरोधी था। सबसे बड़ी बात इस स्वाधीनता-संग्राम की यह थी कि इनका नेतृत्व उन किसानों ने किया जो फौज में सिपाहियों और सूबेदारों के रूप में कार्य कर रहे थे, अनेक छोटे-छोटे सामन्त उनके सहायक थे, संग्राम के नेता नहीं।' फौज के भीतरवाले किसानों के साथ गाँव के किसान भी मिलकर लड़े। हिन्दुओं के साथ मुसलमान लड़े। अमीर के साथ गरीब ने लड़ाई में शामिल होना अपना धर्म समझा। हिन्दी प्रदेशों के लोकगीतों में यह भाव-संस्कृति दिखाई देती है। स्वाधीनता-संग्राम के प्रमुख क्षेत्र हिन्दी-भाषी प्रदेश थे। इस तरह 1857 का स्वाधीनता-संग्राम हमारा जातीय-संग्राम था। लोगों को समझाया गया कि ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी है और हिन्दी प्रदेशों को कच्चा माल उगाने वाला खेतिहर प्रदेश बनाया जा रहा है। ईस्ट इंडिया कम्पनी इज़ारेदार व्यापारियों की कम्पनी थी जिस पर पूँजीपति वर्ग का वर्चस्व था। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति की असफलताएँ ब्रिटिश जनता के सामने

थीं इसलिए वहाँ उनका विरोध था। भारत में तो अनेक सामन्त अँग्रेजों के भक्त थे। राजस्थान, हैदराबाद, महाराष्ट्र, कश्मीर के सामन्त उनकी आरती गाते थे। यूरोप के ज़मींदारों, पूंजीपतियों, व्यापारियों ने जहाँ भी अपने उपनिवेश बनाये या दूसरों को गुलाम बनायावहाँ सामन्त विरोधी क्रान्ति नहीं हुई। भारत में अँग्रेजी राज सबसे बड़ा जमींदार बनकर आया। उनकी नीतियों से किसान भूखों मरने लगा। भारतेन्दु युग का साहित्य गदर के अत्याचारों एवं किसानों की भुखमरी से भरा हुआ है *'ढपली बाज रही भारत भिखारी की'* सम्पन्न भारत भिखारी हो गया। भारतीय माल पर भारी टैक्स लगाया गया तो व्यापार चौपट हो गया। हिन्दी नवजागरण का दूसरा चरण भारतेन्दु युग था।

हिन्दी नवजागरण का तीसरा चरण महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके साथियों-सहयोगियों का युग है। सन 1900 में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन और 1920 तक द्विवेदी जी का वरदहस्त इस काल को 'द्विवेदी-युग' कहा जा सकता है। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का यह युग स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार तथा विदेशी माल के बहिष्कार की चेतना का युग है। आचार्य द्विवेदी ने अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में अर्थशास्त्र का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था। उन्होंने श्रम से पुस्तक लिखी'सम्पत्तिशास्त्र'। उसके कुछ अंश 1907 की 'सरस्वती' में छपे और पूरी पुस्तक 1908 में प्रकाशित हुई। हिन्दी का यह पहला लेखक है जिसने साहित्य के साथ 'अर्थशास्त्र' का अध्ययन किया। यह अर्थशास्त्र-ज्ञान नई पुरानी सामग्री का विश्लेषण नहीं है इसका उद्देश्य है ब्रिटिश साम्राज्यवादी लूट के दिनों में भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययनआज भी जो लोग भारत में अँग्रेजी साम्राज्य की भूमिका समयानुसार समझना चाहते हैं उनके लिए इस पुस्तक में ज्ञान का अकूत खज़ाना है। अर्थशास्त्र के अध्ययन के साथ द्विवेदी जी ने राजनीतिक विषयों का अध्ययन किया और संसार भर की राजनीतिक घटनाओं पर लेख लिखे। राजनीति तथा अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान की प्रगति, समाजशास्त्र, इतिहास, प्राचीन दर्शन और विज्ञान का ज्ञान प्राप्त किया। एक सम्पादक और चिंतक के रूप में यह तैयारी पहली बार दिखाई देती है। इसी परिश्रम का परिणाम है कि हिन्दी प्रदेशों में नवीन सामाजिक-राजनीतिक चेतना का प्रकाश फैला। हिन्दी नवजागरण के क्षेत्र में इस कार्य का महत्त्व अविस्मरणीय है। उन्होंने 'सरस्वती' को एक आदर्श प्रतिमान बना दिया। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि ''साहित्य क्षेत्र में उन्होंने तय कर लिया था कि हिन्दी गद्य का विकास करना है। आधुनिक हिन्दी को विविध विषयों के विवेचन का माध्यम बनाना है, कविता में ब्रजभाषा की जगह खड़ीबोली को प्रतिष्ठित करना है और साहित्य से रीतिवाद को निकाल कर बाहर करना है। लगभग 20 वर्ष तक एकाग्र मन से इस निश्चित उद्देश्य की सिद्धि में वे लगे रहे और उन्हें सफलता प्राप्त हुई।'' (महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, भूमिका, पृ. 17)

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी भाषा के विकास के अनेक पक्षों पर ध्यान दिया। भारत में अँग्रेजी की स्थिति, भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की समस्या, भारतीय भाषाओं के बीच सम्पर्क भाषा की समस्या, हिन्दी-उर्दू में भेद तथा आपसी समानता, हिन्दी तथा जनजातीय भाषाओं के संबंध आदि पर आचार्य ने गहराई से विचार किया। भाषा परिष्कारक

का काम कियालेकिन वह केवल भाषा परिष्कारक ही नहीं हैं। उन्हें भाषा-परिष्कारक की छवि देकर विद्वानों ने उनकी गलत छवि प्रस्तुत की है। वे व्यापक स्तर पर साहित्यकार-सम्पादक थे। द्विवेदी युग केवल इतिवृत्तात्मकउपदेशात्मक साहित्य का युग नहीं है, वह कई अर्थों में साहित्य के सीमान्तों को व्यापकता प्रदान करने वाला साहित्य है। उन्होंने बराबर ध्यान दिलाया है कि भारत ने विदेशों की गुलामी का ठेका नहीं ले रखा है। हमारा भारतीय नवजागरण ऐशियाई-नवजागरण का अंग है। आचार्य द्विवेदी के लेखों से यह भी संकेत मिलता है कि हिन्दी नवजागरण बंगला, गुजराती, मराठी जैसा नवजागरण नहीं है उसकी अपनी भिन्न विशेषताएँ हैं। उसका अपना साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र है। यही चरित्र भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग में मुक्त भाव से सामने आता है।

अँग्रेजी राज में भारत की साम्राज्यवादसामन्तवाद विरोधी भूमिका का विस्तार से वर्णन आचार्य द्विवेदी ने ‘सम्पत्तिशास्त्र’ में किया है। भारत की दुर्दयनीय दरिद्रता देखकर कलेजा काँप उठता है। भारत की दुर्दशा निर्धनता की यह पुस्तक दस्तावेज़ है। उनकी निगाह में भारत की दरिद्रता का कारण अँग्रेजी राज है। जिस तरह अँग्रेजों ने भारत को अपने अधीन बनायाउसी तरह व्यापार की मूल समस्या भारत की पराधीनता बनी है। अँग्रेजों ने आकर भारत के मूल अर्थतन्त्र में परिवर्तन किए। मौलिक परिवर्तन यह हुआ कि अँग्रेज सरकार ने भारत की पूरी जमीन पर कब्जा कर लिया। यहाँ नए तरह का सामन्तवाद कायम किया! आचार्य द्विवेदी ने ‘सम्पत्तिशास्त्र’ में कहा है कि “हर आदमी अपनी जमीन का मालिक था। राजा सिर्फ उससे उसकी जमीन की पैदावार का छठा हिस्सा ले लिया करता था। बस, सिर्फ राजा का इतना ही हक़ था। वह एक प्रकार का कर था, जमीन का लगान नहीं।” (पृ.111) द्विवेदी जी कर और लगान का भेद समझते-समझाते हैंकर वह लेगा जो जमीन का मालिक नहीं है। लगान वह लेता है जिसने जमीन पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया है। ईस्ट इंडिया कम्पनी की आड़ में अँग्रेजों ने ऐसी चाल चली कि जमीन की मालिक ब्रिटिश गवर्नमेण्ट हो गई। वह जोरावरी किसानों से लगान लेती थी। लगान न देने पर जमीन से किसान को बेदखल किया जा सकता था और उनकी जमीन छीनकर किसी अन्य जमींदार को दी जा सकती थी। एक किसान ने तो एक अँग्रेज से कहा था “साहिब जंगल, पेड़, नदियाँ, कुएँसारे गाँव, सभी तीर्थस्थान सरकार के हो गए हैं। उसने सब कुछ ले लिया है।” जमीन पर सरकार का हक होने की बात के कारण ही गदर हुआ थाजिसे बाद के तमाम मार्क्सवादी अपने-अपने शब्दों में व्यक्त करते रहे हैं। अँग्रेजों ने किसान से मनमर्जी लगान लेना शुरू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि अन्नदाता किसान अन्न के लिए तरसने लगा और कर्ज के बोझ से लदने लगा। अँग्रेजी राज में अकाल पड़ता थातो जनता भिखारी बनकर दर-दर की ठोकरें खाती थी। इतना ही नहीं अँग्रेज राज्य-व्यवस्था का सारा खर्च किसान से ही वसूल करते थे।

आचार्य द्विवेदी को इस बात का कष्ट जीवन भर रहा कि अँग्रेजी राज्य में अंग्रेज नीतियों ने भारत के व्यापार तथा उद्योग धन्धों को चौपट कर दिया। वे यहाँ व्यापारी बनकर आये(अपने देश का माल बेचने वाले व्यापारी बनकर नहीं) हमारे यहाँ का माल ले जाकर अपने

देश में बेचने वाले व्यापारी बनकर आये। यूरोप के देशों में इस बात को लेकर काफी खींचातानी रही कि भारत के व्यापार पर किसका कब्जा हो। भारत इस समय कच्चे माल का निर्यात करने वाला प्रमुख औद्योगिक देश था तभा भारत बाहर का माल बहुत कम खरीदता था। अभी यहाँ भाप से चलने वाली मशीनों का प्रयोग शुरू न हुआ था। लेकिन यूरोप में व्यापार वृद्धि के लिए मशीनों का व्यापक स्तर पर प्रयोग शुरू हुआ। इसी बल पर 200 वर्ष तक अँग्रेज भारत में अपना व्यापार फैलाते रहे। यूरोप ने अमेरिका में अपने उपनिवेश कायम करके व्यापार को बढ़ाया। ब्रिटेन यूरोप ने मिलकर विश्व बाजार कायम किया। भारत में अँग्रेजों ने उद्योग-धन्धों का काम किया और यहाँ व्यापार पर, बाजार पर अधिकार कायम किया। भारत को खेतिहर देश बनाया। यहाँ के कारीगर-जुलाहे भूखों मरने लगे। यहाँ का कला-कौशल मारा गया। अँग्रेजों ने जो विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था कायम की उसने भारतीय अर्थ-तन्त्र की रीढ़ तोड़कर रख दी। व्यापारी लोग भारत से गुलामों को खरीदकर विदेशी बाजारों में बेचने लगे। भारतीयों को फुसलाकर कलकत्ते से कुली बनाकर रवाना करने लगे। फिजी, ट्रिनिडाड, मारीशस देश इन्हीं भारतीय कुलियों पर हुए अपार अत्याचारों का आज भी स्मरण दिलाते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजों ने भारत के किसानों का ही धन खर्च किया। *'सम्पत्तिशास्त्र'* इसी कथा-व्यथा का ऐतिहासिक दस्तावेज है।

आचार्य द्विवेदी ने राजनीतिक-आर्थिक चेतना के साथ आधुनिक विज्ञान की ओर ध्यान दिया। वे सामन्ती-समाज व्यवस्था की कुरीतियों को नष्ट करना चाहते थे और धार्मिक अंधविश्वासों को निर्मूल। भारत में वृहस्पति और चार्वाक की एक चिंतन धारा रही है जो वर्णव्यवस्था तथा पुरोहितवाद की तीखी आलोचना करती है। आचार्य द्विवेदी ने अपने 'निरीश्वरवाद' लेख में चार्वाक की'सर्वदर्शन संग्रह' से अनेक श्लोक उद्धृत किए हैं और भारतीय तर्क पर खड़ी विवेकवाद की परम्परा को आदर दिया। कबीर में यही विवेक परम्परा है, जो कर्मकाण्डी पुरोहितवाद का विरोध करती है। द्विवेदीजी ने 'श्रीहर्ष का कलियुग' शीर्षक लेख लिखा और देश को नैषधीय परम्परा का स्मरण कराया। रूढ़िवाद का विरोध किया।

आचार्य द्विवेदी का प्रबल विचार था कि वेदों को ईश्वर ने नहीं, मानवों ने रचा है। यह अनुपम मानक-सम्पत्ति है सृजन है। आचार्य ने भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में आर्यभट्ट एक बहुत बड़ा नाम पाया। उनके गणित एवं ज्योतिष पर किए गए कार्य के वे प्रशंसक थे। यूरोप के प्रभाव-प्रेरणा से भारत में संस्कृत अध्ययन-अनुसंधान का कार्य 18वीं, 19वीं शताब्दी में मन लगाकर किया गया। इससे भारतीय अतीत के नए पन्ने खुलने लगे। विलियम जोन्स ने संस्कृत पढ़ कर 'मनुस्मृति' तथा 'शकुन्तला' नाटक का अनुवाद किया। इस अनुवाद का यूरोप में प्रकाशित होना एक नया तहलका पैदा करना था। यूरोप ने भारतीयों को इंसान समझना इसी अनुवाद से शुरू किया। उसके बाद भारत के अनगिनत ग्रंथ बाहर गए। मैक्समूलर और मैकडूनल में नया जोश उन ग्रंथों से आया। आचार्य द्विवेदी ने 1908 की 'सरस्वती' में 'मुग्धानलाचार्य' शीर्षक विस्तृत लेख प्रकाशित किया। साथ ही डार्विन के विकासवाद पर कई लेख प्रकाशित किए। आचार्य द्विवेदी का पूरा चिंतन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुवाद

'विश्वप्रपंच' की भूमिका का ध्यान दिलाता है कि भारत कोरा अध्यात्मवादी देश नहीं रहा। यहाँ तर्क एवं वैज्ञानिक सोच का निरन्तर प्रवाह रहा है। द्विवेदी जी ने हर्बर्ट स्पेंसर पर ध्यान दिया और उन्हें ऋषितुल्य कहा। बार-बार उनका ध्यान बौद्ध चिंतन की वैज्ञानिकता पर गया। इस तरह उन्होंने हर क्षेत्र में वैज्ञानिक सुधारवादी विचारधारा पर बल दिया है।

भारतीयों की शिक्षा का माध्यम क्या हो? अंग्रेजी या भारतीय भाषाएँ। यह बहस उस समय जोर-शोर से छिड़ी थी कि हम अंग्रेजी माध्यम की गुलामी कब तक ढोयेंगे? हमें भारतीय भाषाओं के अधिकारों के लिए संघर्ष करना चाहिए। भारत के बहुत से लोग जातीय भाषाओं का महत्त्व नहीं समझते। हिन्दी भाषी बहुत से लोग राष्ट्रभाषा हिन्दी का महत्त्व नहीं समझते। यह समझना जरूरी है हिन्दी एक राष्ट्र की भाषा है। आचार्य द्विवेदी का यह भारतीय भाषाओं के प्रति प्रेम ही है कि वे अंग्रेजी के विरुद्ध हिन्दी या देशी-भाषाओं की हिमायत का मौका छोड़ते नहीं है। मातृभाषा में शिक्षा की महत्ता अपने साहित्य की महत्ता वे बारबार लेख लिखकर जनता को समझाते हैं। वे मानते थे कि मातृभाषा का अनादर करना किसी सपूत के लिए शोभादायक नहीं है। अँग्रेज कह रहे थे कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों की राष्ट्रभाषा (लिंगुआ फ्रान्का) बन गई है। भारत के पूँजीवादी नेता इस बात का समर्थन करते थे। इन्हीं की बदौलत स्वतन्त्र भारत में अंग्रेजी भारतीय भाषाओं की छाती पर सवार हो गई और आज मजदूर सभाओं तक का काम अंग्रेजी में होता है। गाँधीजी एवं रवीन्द्रनाथ के प्रयत्नों को यही भारत के अंग्रेजी भक्त डकार गए। दरअसल, मैकाले के बाद भारतीय भाषाओं पर अँग्रजी लादने का प्रयत्न निरन्तर होता रहा। इस प्रयत्न को धीरे-धीरे सफलता मिल गई। कहा जाता है कि राजा राममोहन राय अंग्रेजी शिक्षा के समर्थक थे। महाराष्ट्र में मैकालेवाद का विरोध हुआ और भाषा-समस्या स्वाधीनता आन्दोलन का अंग बनती गयी। मराठी-भारतियों ने अपनी मराठी के साथ भारतीय भाषाओं के लिए भी संघर्ष किया। गाँधी जी ने हिन्दी को सम्पर्क भाषा बनाने का कार्य संकल्पपूर्वक किया लेकिन अंग्रेजी पढ़े आधुनिकतावादी गाँधी को शरबत की तरह गटक गए। अंग्रेजी ने सभी भारतीय भाषाओं के अधिकार छीने हैं। गाँधी जी के मातृभाषा प्रेम से तरक्की पसन्द लोगों को कष्ट होता है और वे अंग्रेजी की अलग राजनीति खड़ी करते हैं। उनकी राजनीतिक खोपड़ी खड़ी हो जाये यदि हिन्दी भाषी प्रतिज्ञाबद्ध होकर हिन्दी में ही बोले। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनते देरी कैसे हो सकती है। लेकिन हिन्दी प्रदेशों का ढिल्लड़वाद सभी सत्यानाशों की जड़ है। जबकि जापान में कठिन से कठिन जापानी में पढ़ाया जाता है। यही हाल जर्मन और फ्रेंच भाषा का है। अपनी भाषाओं का सम्मान केवल भारत में नहीं है। केवल यहाँ आरोपित समस्याएँ हैं अंग्रेजी की समस्या, हिन्दी-उर्दू की समस्या, हिन्दी तथा संस्कृत शब्दावली, फारसी का खेल तथा हिन्दी के स्वरूप निर्धारण की समस्या। भाषा की अनस्थिरता को लेकर बालमुकुन्द गुप्त तथा द्विवेदी जी में बड़ा भारी वाद-विवाद हुआ। विरोध शान्त हो जाने पर गुप्त जी ने कानपुर जाकर आचार्य द्विवेदी के चरण छुए। यह प्रदर्शन नहीं था, आचार्य द्विवेदी जी के भाषा-तप की महत्त्व-प्रतिष्ठा थी।

आचार्य द्विवेदी ने अपना तप-बल लगाकर हिन्दी के साहित्यालोचन को नया किया,

साथ ही साहित्य से रूढ़िवाद को भगाने के लिए रीतिवाद विरोधी अभियान चलाया। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' पुस्तक में इसे 'रीतिवाद-विरोधी अभियान' नाम खूब सोच-समझकर ही दिया है। यह भी माना है कि आचार्य द्विवेदी जी सीमित अर्थों में साहित्यकार नहीं है। उनका उद्देश्य साहित्य जगत में एक नई तरह की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न करना था। वे यह मानते थे कि जैसे अनेक जातियों से मिलकर भारत एक राष्ट्र बना है वैसे ही विभिन्न जातीय साहित्य से मिलकर भारतीय साहित्य बना है। आचार्य द्विवेदी जाति और साहित्य के संबंध को बराबर जोड़ते रहे हैं। वे कहते हैंसाहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। इस तरह साहित्य मुर्दों को जिन्दा करने वाली संजीवनी औषधि है। यह विचार भी उनके सामने रहा है कि हिन्दी में हिन्दी आलोचना की एक जातीय परम्परा रही है। साहित्य में आलोचना के जातीय स्वरूप को पहचानने वाले आचार्य द्विवेदी अकेले नहीं है, उनके साथ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और निराला जी भी हैं।

साहित्य की परम्परा को पहचानते हुए इन सभी ने आलोचना को मुक्त किया। उन्होंने भक्त कवियों और नायिका भेदी रीतिवादी कवियों को एक दूसरे से अलग किया। उन्होंने संस्कृत में वेदों की चर्चा करने के बाद कहा''सूर और तुलसी के साथ देव और मतिराम का नाम लिखना अपराध है।'' हिन्दी में यदि कोई कविरत्न कहे जाने योग्य कवि या महाकवि हैं, तो वे सूर या तुलसी ही हैं। रस, भाव, अलंकार, छन्दशास्त्र और नायिका-भेद के परिज्ञान से मनुष्य जाति का बहुत ही कम उपकार हो सकता है।'' मतिराम को रत्न कहना भूल है। इन सभी ने मिलकर रीतिवादी साहित्य का निर्माण किया। रीति विरोधी होने के कारण आचार्य द्विवेदी भारतेन्दु बाबू को ऊँचा स्थान प्रदान करते हैं। दरबारी कवि हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु का क्या खाकर मुकाबला करेंगे?

सन 1901 में आचार्य द्विवेदी का 'सरस्वती' में 'नायिका भेद' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। उन्होंने रीतिवाद का सम्बन्ध दरबारी कवियों से जोड़कर लिखा है। 'राजाश्रय मिलने की देरी, राजाजी को सब प्रकार की नायिकाओं के रसास्वादन का आनन्द चखाने के लिए कवि जी को देरी नहीं। 10 वर्ष की अज्ञात यौवना से लेकर 50 वर्ष की प्रौढ़ा तक के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद बतलाकर और उनके हाव, भाव, विलास आदि की सारी दिनचर्या वर्णन करके ही कविजन सन्तोष नहीं करते थे।' नायिका भेदी रीतिवाद का आचार्य द्विवेदी के साथ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पन्त आदि सभी कवियों ने विरोध किया। नए युग के लेखकों ने घिसे-पिटे विषयों का विरोध किया और अंग्रेजी-साम्राज्यवादी लूटतन्त्र के विरुद्ध तमाम साहित्य लिखा, यही समय प्रेमचन्द के जनजागरणवादी साहित्य के सृजन का है।

'सरस्वती' अपने समय-समाज-संस्कृति की प्रतिनिधि पत्रिका रही है। आचार्य द्विवेदी ने सामाजिक जागरण की अनेक कविताएँ उसमें स्वयं लिखीं तथा अनेक कवियों से कविताएँ लेकर छापीं। 'हीरा डोम' की कविता छापकर दलित पीड़ा को अभिव्यक्ति दी। कथा-साहित्य में द्विवेदी-युग की मुख्य देन हैंप्रेमचन्द। आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा कविता में

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला। जिस बुद्धिवादी धारा के आचार्य द्विवेदी प्रबल प्रतिनिधि थे वह व्यक्तिवादी साहित्य संवाद का विरोध करती है। इन तमाम विशेषताओं के कारण हिन्दी की जातीय पत्रिका 'सरस्वती' थी। इस पत्रिका ने इतिहासकार काशीप्रसाद जायसवाल को खूब छापा, लेकिन जायसवाल ने 'भारत-भारती' का विरोध किया तो द्विवेदी जी के कान खड़े हो गये। कामताप्रसाद गुरु भी 'सरस्वती' में मैथिलीशरण गुप्त की तरह प्रिय लेखकों में थे। जिसे लोग 'शुद्ध हिन्दी' कहते हैं वे उसके पक्षपाती नहीं थे। नागरी प्रचारिणी सभा की गहरी खोज रिपोर्ट को लेकर आचार्य द्विवेदी ने जो कुछ 'सरस्वती' में लिखाउससे केदार पाठक को बहुत दुःख हुआ। वे अपना दुःख व्यक्त करने द्विवेदी जी के घर कानपुर आये। मामला शान्त हुआ। द्विवेदी युग के लेखकों को 'सरस्वती' पत्रिका में क्रमबद्ध करना बड़े साहस का काम था। नए-पुराने लेखकों में ऐसा कोई लेखक नहीं था जिसे द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में न छापा हो। 'सरस्वती' में रचना छपने का मतलब थास्तरीय रचना। ज्ञान-विज्ञान देश-विदेश पर 'सरस्वती' में लेख छपते रहे। अकेले जापान पर कितने ही लेख छापे। आचार्य द्विवेदी तो लेखकों के गुरु या सलाहकार थेकोरे सम्पादक, अर्थमय संशोधनकर्त्ता आचार्य न थे। इसलिए आज भी उन्हें नाम के साथ आचार्य का प्रयोग शोभा देता है। आचार्य द्विवेदी की 'सरस्वती' में युगान्तरकारी भूमिका इतनी बड़ी है कि उनके स्मरण मात्र में प्रेरणा की सुगंध आती है। उन्होंने 'सरस्वती' के लिए इतना अधिक परिश्रम किया कि उन्हें नींद न आने का रोग हो गया। अनिद्रा रोग के कारण तड़प कर जीते रहे। समग्र रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी के लिए उनका नाम प्रातः स्मरणीय है।

ए-102/3 , एस.एफ.एस. फ्लैट्स,
साकेत, नई दिल्ली-110017
दूरभाष : 011-26520545

सन्दर्भ ग्रन्थ :

भारत यायावर, महावीर प्रसाद द्विवेदी-रचनावली, खण्ड 17, प्र. सं. 1995, किताबघर, दरियागंज, नई दिल्ली-110002.

डॉ. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, प्र.सं. 1977, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज-110002.

नन्द किशोर नवल, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्र.सं. 1981- साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली- 110001

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य- बीसवीं शताब्दी, सं. 1970, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद-1

(2) आधुनिक साहित्य, नन्ददुलारे वाजपेयी ग्रन्थावली, सं. डॉ. विजय बहादुर सिंह, अनामिका प्रकाशन, 2003, दरियागंज, दिल्ली-2

सम्पादक श्रीकान्त जोशी, माखन लाल चतुर्वेदी रचनावली- भाग 1 से 10, वाणी प्रकाशन, पृ. सं. 1995, दरियागंज, दिल्ली- 110002

पिता और पुत्र

सुरेन्द्र महान्ति

शिखर देश के छोटे छिद्र से आ रही सुबह की रोशनी अँधेरे बन्दीगृह को थोड़ा प्रकाशित कर रही है। राजगृह के राजपथ से जनता के दैनिक क्रिया-कलाप का कोलाहल सुनाई पड़ रहा है।

बन्दी ने एक बार क्षुधित दृष्टि से छिद्र की रोशनी की ओर देखा। सुबह की शान्त, सौम्य आलोक रेखा, भगवान बुद्ध के आशीर्वाद की तरह प्रतीत हो रही थी।

बुढ़ापा, अनाहार एवं अत्याचार से बन्दी क्षीर्ण होकर एक प्रेत की छाया जैसे लग रहे हैं। उनका वक्षस्थल आँसुओं से भीग चुका था, शरीर की त्वचा ढीली पड़ चुकी थी।

बन्दी मगध के राजा बिम्बिसार हैं।

पुत्र अजातशत्रु के आदेश से ही काराबद्ध हो गये हैं इस जीवन्त समाधि में।

तड़पा-तड़पा कर अनाहार से बिम्बिसार की हत्या करने अजातशत्रु प्रतिज्ञाबद्ध हैं।

क्लान्ति और पीड़ा से बिम्बिसार की गहरी आँखों की दोनों पलकें फिर मुँद गईं। अनाहार व क्षुधा से उनके अंग-प्रत्यंग जड़वत् होते जा रहे हैं। तृषित जिह्वा को सूखे होठों पर घुमाते हुए रुद्धकण्ठ से बिम्बिसार ने आर्तनाद किया।

उनके ही आदेश से इस राजगृह का निर्माण हुआ था। आज उसी राजगृह के अंधकूप में, लोगों की नज़र से दूर तड़प-तड़प कर झेल रहे हैं मृत्यु की यंत्रणा! अपने कर्मों का फल! पूर्वजन्म का कर्मफल!

पूर्व की राजधानी कुशाग्रनगर में एक बार भीषण आग लगी। सारी राजधानी राख के ढेर में तब्दील होने लगी थी। बिम्बिसार ने आदेश दिया- 'जिसके घर में आग लगेगी, उसे निर्वासित किया जाएगा।' मगर विधि का विचित्र विधान था। बिम्बिसार के प्रासाद में ही आग लग गई। बिम्बिसार ने स्वेच्छा से शीतलवन में निर्वासन ग्रहण किया।

वहाँ की सर्पिली-नदी-सेविता, छायान्वित विपुलगिर, वेभारगिरि, मृध्रकूट, बादलों से घिरे शीतलवन ने बिम्बिसार को आकर्षित किया था। वहाँ उनके ही आदेश से निर्मित हुआ नया राजगृह।

बिम्बिसार ने इस राजगृह के मानो शेष दर्शन के लिए ही दोनों क्लान्त आँखें

खोलींनिष्प्राण दृष्टिहीन आँखें पत्थर जैसी हो गयी थीं।

जिस दिन अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार को काराबद्ध किया उस दिन शोकसंतप्त, विक्षिप्त, अश्रुभरी माता कोशलादेवी ने अजातशत्रु के पास आकर प्रार्थना की ''पुत्र, अजातशत्रु!''

अजातशत्रु ने उपहास भरे स्वर में कहा, 'आदेश कीजिए काशीराजनन्दिनी।'

'माता' का सम्बोधन करना क्या इतना ही लज्जाजनक है पुत्र?

'पुत्र' ! हाः हाः हाः ... विकट अट्टहास कर उठे अजातशत्रु । उसके पश्चात् रुक्ष, निर्मम स्वर में कहा 'माता का सम्बोधन करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु आप ही बताइये माताश्री कि जिस नारी ने अपने गर्भस्थ पुत्र को भविष्यत में पितृहन्ता होने की आशंका से एक दिन बेझिझक उसकी हत्या का षड़यंत्र रचा था, वही माता जब उस अभागे पुत्र के पास आकर उसे 'पुत्र' सम्बोधित करेगी तो वह क्या देगा उसका प्रत्युत्तर?'

कोशलादेवी ने असहाय स्वर में कहा 'सौ बार कह चुकी हूँ पुत्र, यह मात्र मिथ्या जनश्रुति है।'

अजातशत्रु ने कहा 'सत्य के बगैर जनश्रुति नहीं होती राजनन्दिनी! खैर छोड़ो। बिम्बिसार की कारामुक्ति के अलावा अन्य सभी प्रार्थनाओं पर विचार करने के लिए मैं तैयार हूँ राजनन्दिनी!'

कोशलादेवी ने विनती भरे स्वर में आँचल से आँसू पोछते हुए कहा 'ठीक है, पितृरक्त से अगर महाराज के मंगलाभिषेक की कामना पूर्ण करना है तो इसका विरोध करने की शक्ति है किसके पास?' परन्तु मेरा केवल एक ही अनुरोध था महाराज! इस अभागिन के हाथ के बनाए भोजन के अलावा बिम्बिसार को अन्य कुछ भी पसन्द नहीं। इसलिए आज बंदीगृह में अपने हाथों से उन्हें भोजन परोसने के अवसर से मुझे वंचित तो नहीं करेंगे, महाराज !'

अजातशत्रु ने कहा 'इस प्रार्थना को सहर्ष स्वीकार करता हूँ, काशीराजनन्दिनी!'

परन्तु कोशलादेवी के जाने के तुरन्त बाद बंदीगृह के प्रहरी चण्ड को अजातशत्रु ने आदेश दिया कि 'कोशलादेवी द्वारा प्रेषित किसी भी खाद्य पदार्थ को बन्दी छू भी न पाए!'

जलपात्र खाली था। बिम्बिसार ने अपने दोनों शिथिल, काँपते हाथों से उस खाली पात्र को जैसे ही मुँह से लगाया वह नीचे गिर कर चकनाचूर हो गया। सुबह का सूरज अब आकाशपथ पर बहुत आगे बढ़ चुका था। शिखर के छिद्रपथ की वही क्षीण आलोक रेखा कब की बुझ चुकी थी। दुर्गंध भरे कारागार में था तो बस अन्धकार, निरानन्दता और निष्ठुरता...।

क्षुधा की तड़प अब नहीं थी। था तो बस शान्त शरीर और तृष्णा। कुछ देर बाद इससे भी मुक्ति मिल जाएगी। उसके बाद सब शून्य... ... बुद्ध के ध्यानालोक-सा निष्पलक स्थिर! पलकें धीरे-धीरे अब शून्यवृत्त की परिधि की परिक्रमा करते हुए बिम्बिसार के चारों ओर क़रीब

से क़रीबतर होती आ रही हैं। महाशून्य की पृष्ठभूमि पर बिम्बिसार के ओझल नयन-पथ पर, ध्यानगम्भीर, कायोत्सर्ग, मुद्राबद्ध प्रभु गौतम बुद्ध की प्रशान्त मूर्ति दिखाई दी। दोनों अर्द्धसंवृत्त नयन, अब बुद्ध की शान्ति में धर्मवत् निमग्न।

तृष्णा से बिम्बिसार की जीभ और होंठ फटकर उनसे काला खून बह रहा है। उसी खून से उनका सूखा कण्ठ भीग गया और बिम्बिसार आहत पशु की भाँति गर्जन कर उठे...।

महाशून्य की पृष्ठभूमि में बिम्बिसार के नयन-पथ पर जीवन्त हो उठा गम्भीर मृध्रकूट पर्वत शिखर का सप्तपर्णी गह्वर। शाक्य वंशोद्भव राजपुत्र गौतम संन्यास ग्रहण कर सप्तपर्णी गह्वर में चातुर्मास्य व्रत पालन कर रहे हैं। लोगों के मुख से यह समाचार सुनकर बिम्बिसार आश्चर्यचकित हुए थे।

उस दिन बादलविहीन नीले आकाश में सिर्फ धुँधली उदासी की लहर फैली हुई थी। बिम्बिसार अपने मंत्रीगण के साथ गौतम के दर्शन के लिए मृध्रकूट शिखर की ओर गये थे। पर्वत के दक्षिण की ओर स्थित बरामदे में गौतमबुद्ध अनुदात्त कण्ठ से कुछेक भिक्षुओं को प्रव्रज्यासूत्र की व्याख्या कर रहे थे। मृध्रकूट पर्वत के नीचे स्थित मयूरोद्यान में मोर का मनोहारी पाँखीनृत्य जो मोरनी के इशारे से कभी लयभग्न हो जा रहा हैकभी उसके चोंचीले-चुम्बन से पुनर्जीवित हो उठ रहा है। निकटवर्ती मृगोद्यान की घनी दूब पर कुछ हिरन जुगाली कर रहे हैं। वहीं पास स्थित समागधी तालाब में एक हिरन आत्ममुग्ध होकर तिरछे पानी पर अपना प्रतिबिम्ब निहार रहा है।

साधना के तप से गौतम बुद्ध के शरीर से एक प्रकार का उजास झलक रहा है। अर्द्धसंवृत्त दोनों नयनों में धुँधली उदास छाया स्पष्ट प्रतीत हो रही थी। उनके मुद्राबद्ध हस्तों से शान्ति का आशीर्वाद-सन्देश मिल रहा था। सादर सम्भाषणार्थ बिम्बिसार ने प्रश्न किया 'किस दुःख के लिए यह कृच्छ्र साधना कुमार?'

मन्द मुस्कान के साथ गौतम बुद्ध ने उत्तर दिया 'दुःख के लिए नहीं महाराज, दुःख के कारण और उसके निराकरण के सन्धान हेतु संन्यासी की यह कृच्छ्र साधना।'

बिम्बिसार ने अट्टहास करते हुए कहा 'कारण तो बहुत ही सरल है, परन्तु सप्तपर्णी के इस गह्वर में आप उसका निराकरण कहाँ ढूँढ पाएँगे कुमार! उसके लिए चलिए राजगृह की उत्सवशाला। रोम की फैनदार मदिरा और मगध के मनोहारी नृत्य में आपको सभी दुःखों का निदान मिल जाएगा।'

मन ही मन आनन्दित हो बिम्बिसार अट्टहास कर उठे। गौतम बुद्ध के अर्द्धसंवृत्त नयनों की धुँधली उदास छाया, शाम का मौन, अँधकार की तरह गहरा और गम्भीर हो गया था।

ओह... प्यास के मारे बिम्बिसार के हलक को मानो कोई खींच कर बाहर निकाल रहा है।

कुछ क्षण की खामोशी के बाद गौतम बुद्ध ने उत्तर दिया 'कामना के जल से इस

प्यास की तृप्ति नहीं, महाराज।'

निर्जन बंदीगृह की प्राणहीन खामोशी जैसे उस वाणी से प्रतिध्वनित हो उठी।

सदा नृत्यरत सुमधुर नूपुर-ध्वनि से युक्त सुमागधी तालाब के लहराते हुए पैर आज स्तब्ध हैं। काजल से घिरे नयनों में मौत की काली छाया मण्डरा रही है। रोम के फैनदार मदिरा पात्र से जहर की बुदबुदाहट-सी उभर रही है। किसकी नूपुर ध्वनि है यह? कोशलादेवी की? महारानी की?

बंदीगृह में पाली की बदली हो रही है। लोहे के कवच की सरसराहट आ रही है। असह्य तृष्णा के मारे बिम्बिसार ने घायल जानवर की भाँति अपनी भुजा को काट डाला।

2

अजातशत्रु अपलक नयनों से प्रासाद-कक्ष की खिड़की से पर्वतमाला के क्षितिज की ओर निहार रहे थे और सन्तान-सम्भवा रानी वज्रा सूखी नदी के समान पलंग पर अपने शरीर को फैलाकर पड़ी हुई थीं। कबूतरखाने से झुण्ड के झुण्ड कबूतर निकल रहे हैं और फिर वापस वहीं लौट आ रहे हैं। उद्यान में फैली हरियाली के नीचे एक मोर मदमस्त नृत्य की चाहत में अपने पंख फैला रहा है।

वज्रा थके-हारे स्वर में कह उठी 'महाराज!'

अजातशत्रु ने पलंग के सिरहाने बैठे, आहिस्ता-आहिस्ता वज्रा के माथे पर अपना हाथ फेरते हुए कहा 'हाँ, बोलो वज्रा!'

वज्रा ने अजातशत्रु का एक हाथ पकड़ते हुए कहा 'कहिए महाराज, मेरी यह सन्तान पुत्र होगा या पुत्री?'

प्रश्न सुनकर सशंकित हो गए अजातशत्रु।

वज्रा ने फिर वही निर्मम प्रश्न दोहराया 'कहिए महाराज, मुझे पुत्र होगा या पुत्री?'

गहरी सोच में डूबे अजातशत्रु, वज्रा के पलंग से उठकर चल दिए अपने एकान्त कक्ष की ओर। तत्क्षण असह्य वेदना से चिल्ला उठी वज्रा।

पुत्र!...पुत्र!... अजातशत्रु के ओझल दृष्टि-पथ पर जीवन्त हो उठा राजगृह का अँधेरा बंदीगृह। ऐसा लगा जैसे कर-पद-बद्ध, शृंखलित अजातशत्रु स्वयं भी आर्तनाद कर रहे हैं, अनाहार से।

बहुत ही निर्मम थी वह भविष्यवाणी... 'वज्रा का पहला पुत्र होगा पितृहन्ता' *(अजातशत्रु के पुत्र उदायी और उनकी परवर्ती तीन पीढ़ी के राजकुमार पितृहन्ता थे। इससे प्रजा ने क्रोधित होकर काशी के राजा शिशुनाग का मगध के सिंहासन पर अभिषेक कर दिया था।)*

अजातशत्रु की मुख-भंगिमा कठोर हो गयी। क्या सन्तान-सम्भवा वज्रा को अँधेरे बंदीगृह में बन्द कर देंगे? क्या नवजात शिशु को अँधकूप में मार डालेंगे? क्या अतीत और

भविष्यत को अपने इन दोनों हाथों से मिटा देंगे? अजातशत्रु के लिए ऐसा कौन-सा कार्य असम्भव है? अतीत तो आज बंदीगृह में बन्द है और भविष्यत? परन्तु अतीत और भविष्यत विहीन वर्तमान के अस्तित्व की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती।

वज्रा का आर्तनाद सुनाई पड़ रहा है। प्रसूति-वेदना का मर्मस्पर्शी आर्तनाद...। 'स्रष्टा' को दहलाकर, मंथितकर, जरायू को तोड़-मरोड़ कर 'सृष्टि' चाह रही है अपनी अभिव्यक्ति।

वह दिन अजातशत्रु के मानस पटल पर जीवन्त हो उठा 'बिम्बिसार के आदेश से राजगृह के चारों ओर उत्सव मनाया जा रहा था...।' याद आ गयी अजातशत्रु को बरसों पहले दाई के मुख से सुनी अपनी जन्म की कहानी।... वज्रा के आर्तनाद से प्रासाद का कोना-कोना अनुगूँजित हो रहा है। मानों सब के सब क्रन्दन कर रहे हैं। सृष्टि बहुत ही कठोर है। आज स्रष्टा अपनी ही सृष्टि का दास बन गया है। सृष्टि के आगे हाथ फैलाने के अलावा और कोई चारा नहीं स्रष्टा के पास। फिर भी सृष्टि में न जाने कितना आनन्द है... उसमें कितना गर्व समाहित है। पितृत्व के आनन्द से अजातशत्रु का सम्पूर्ण हृदय अनायास ही झूम उठा।...

एकान्त कक्ष में किसी की आहट सुन अजातशत्रु ने पलट कर देखा। बंदीगृह का प्रहरी चण्ड, मानो अजातशत्रु के आदेशार्थ खड़ा हो।

अजातशत्रु ने पूछा 'क्या समाचार लाए हो चण्ड?'

चण्ड ने कहा 'महाराज के आदेश से तीन दिन हो गए बंदी को एक बूँद पानी तक नहीं दिया गया है। आज चौथा दिन है।

अजातशत्रु की मुख-भंगिमा फिर कठोर हो आई। रुक्ष स्वर में चण्ड से पूछा 'फिर?'

चण्ड ने कहा 'पहले तो 'ओहः पुत्र, ओहः राजगृह' का चीत्कार सुनाई पड़ा था।

राणीहंसपुर से सुनाई दे रही थी शंख और मंगलकामना की ध्वनि। रानी वज्रा का चीत्कार कब का बंद हो चुका था। दाई वसुमती ने नंगे पैर दौड़ते हुए आकर कहासुसंवाद महाराज। महादेवी ने पुत्र को जन्म दिया है। महामन्त्री को बुलाकर उन्हें राजगृह में उत्सव मनाने के लिए आदेश दीजिए, महाराज!

इधर चण्ड ने कहा 'आदेश दीजिए महाराज!'

अजातशत्रु ने एक बार दाई वसुमती की ओर देखा, और दूसरी बार चण्ड की ओर। उसके बाद भावविभोर होकर दौड़ने लगे बाहर की ओर। आँगन, बरामदा दर बरामदा, सीढ़ी दर सीढ़ी पार करते हुए अजातशत्रु पागल की भाँति दौड़ते चले जा रहे हैं। अन्त में बंदीगृह के पास आकर रुक गये। प्रहरी ने अभिवादन किया।

अजातशत्रु ने आदेश दिया 'शीघ्र द्वार खोलो प्रहरी!'

महाकाय द्वार अजीब आवाज़ के साथ खुल गया। अन्दर स्याह अँधेरा फैला हुआ था। अजातशत्रु अँधेराच्छादित सीढ़ियों को पार करते हुए बंदीगृह के भीतर तक दौड़ते चले गये।

पिता को आज पितृत्व का अहसास हो गया है।

स्रष्टा तो चिर उदार, क्षमाशील और करुणामय होते हैं। आज अजातशत्रु अबोध शिशु की भाँति बिम्बिसार की गोद में मुँह छिपाकर क्षमायाचना करेंगे।

परन्तु अजातशत्रु ने बहुत देर कर दी। बिम्बिसार का प्राणहीन शरीर बंदीगृह के पथरीले फर्श पर पड़ा हुआ था। जीवन के अन्तिम क्षण में हिंसक-क्षुधा की तड़प से उन्होंने अपनी एक भुजा को काट डाला था, घायल जानवर की भाँति। आहत स्थल पर खून के कई कतरे गिर कर सूख गये हैं।

राजप्रासाद से सुनाई पड़ रही है नवजात सन्तान की जन्म घोषणा और साथ ही जोरदार शंखध्वनि।

(स्वातंत्र्योत्तर ओड़िआ कथा-साहित्य के परिदृश्य में एक जाना-पहचाना नाम है- सुरेन्द्र महान्ति(1920 -1991)। कथाकार के रूप में ही नहीं, एक उत्कृष्ट संवाददाता, आलोचक, राजनीतिज्ञ और स्तंभलेखक के रूप में भी अपना लोहा मनवाने वाले श्री महान्ति के कई उपन्यास और कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'पिता और पुत्र' कहानी इस बात का प्रमाण है कि वे बौद्धयुगीन कहानी कहने में कितने सिद्धहस्त थे; जो प्रकारान्तर उस प्राचीन संस्कृति की सीमा को लाँघकर समकालीन आधुनिक जीवन के महत्त्वपूर्ण सवालों से भी टकराती है।)

(मूल ओड़िआ से हिन्दी रूपान्तर डॉ. छबिल कुमार मेहेर)

''मैं दुनिया की सब भाषाओं की इज्जत करता हूँ, पर मेरे देश में किसी की इज्जत ना हो ये मैं नहीं सह सकता।''

आचार्य विनोबा भाव

आइंस्टीन का पत्र

(राजनीति को आज हम जिस प्रकार 21 वीं सदी के उत्तर आधुनिक काल में, मात्र बाहुबल और विज्ञापन के द्वितीयक उत्पाद के रूप में देख रहे हैं, उसे एक समर्पित वैज्ञानिक लगभग 90 वर्ष पूर्व भी ठीक इसी रूप में देख रहा था। यह व्यक्तिगत पत्र ''आइंस्टीन'' द्वारा सन, 1931 या 1932 की शुरुआत में ''सिगमंड फ्रायड'' को लिखा गया था। जो कि ''Mein Wettbild, Amsterdam : Quarido Verlag'' में सन् 1934 में प्रकाशित हुआ था। मनोविज्ञान के क्षेत्र में अविस्मरणीय योगदान देने वाले प्रोफेसर सिगमंड फ्रायड को लिखे गये इस पत्र में, अल्बर्ट आइंस्टीन की वैश्विक परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक स्थिति और उसके भविष्य के संबंध में गहरी चेतना स्पष्ट है।)

प्रिय प्रोफेसर फ्रायड,

आपमें सत्य को जानने समझने की उत्कंठा, जिस तरह अन्य उत्कंठाओं पर विजय प्राप्त कर चुकी है, प्रशंसनीय है। आपने अत्यन्त प्रभावी सुबोधगम्यता से दर्शाया है, कि मानव मस्तिष्क में प्रेम और जीवटता के साथ, युद्धप्रिय और विनाशकारी मूलप्रवृत्तियाँ कितने अविलग ढंग से गुँथी हुई हैं। लेकिन, ठीक उसी क्षण आपके वाद-विवाद से परिपूर्ण अकाट्य तर्कों में, मानवता की युद्ध से बाह्य और आन्तरिक मुक्ति के महान लक्ष्य हेतु गहरी अभिलाषा भी प्रकाशमान होती है। इस महान लक्ष्य की घोषणा जीसस क्राइट्स से लेकर गोथे और कान्ट तक, सभी नैतिक और आध्यात्मिक नेताओं के द्वारा किन्हीं अपवादों के बिना तथा देश काल से परे होकर की गयी थी। क्या यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इन लोगों को वैश्विक स्तर पर पथप्रदर्शकों के रूप में स्वीकार किया गया, यद्यपि यह भी सत्य है, कि तमाम मानवीय मुद्दों की विषय-वस्तु को साँचे में ढालने के उनके प्रयासों में (जनता की) अत्यंत अपर्याप्त सफलता के साथ सहभागिता हुई।

मैं स्वीकार करता हूँ कि वे महान लोग, जिनकी उपलब्धियाँ येन-केन प्रकारेण, किसी क्षेत्र तक प्रतिबन्धित कर दी जाती हैं, वही उपलब्धियाँ अपने आसपास के लोगों से उन्हें ऊँचा उठा देती हैं, साथ ही उन्हें समान आदर्श के अपरिहार्य विस्तार का सहभागी भी बनाती हैं। परन्तु, उनका प्रभाव राजनीतिक घटनाओं की विषयवस्तु पर कम है। यह करीब-करीब ऐसे प्रतीत होता है, जैसे उसी क्षेत्र को हिंसा और राजनीतिक सत्ताधारियों की गैरज़िम्मेदारियों पर अपरिहार्य रूप से छोड़ दिया गया हो, जिस कार्यक्षेत्र पर राष्ट्रों की तकदीरें निर्भर करती हैं।

राजनेताओं और सरकारों की वर्तमान स्थिति कुछ बाहुबल और कुछ चर्चित चुनावों के कारण है। वे अपने-अपने राष्ट्रों में नैतिक और बौद्धिक रूप से, जनता के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि नहीं ठहराये जा सकते। बुद्धिजीवी संभ्रांतों का इस वक्त देशों के इतिहास पर कोई सीधा प्रभाव नहीं हैः उनकी सम्बद्धता में कमी, उन्हें समकालीन समस्याओं के निराकरण में सीधे प्रतिभागिता करने से रोकती है। क्या आप इस बात के समर्थन में नहीं हैं, कि जिन लोगों के क्रियाकलाप और पूर्ववर्ती उपलब्धियाँ; उनकी योग्यता और इस महान लक्ष्य की पवित्रता की गारंटी का निर्माण करतीं हैं, उन लोगों के मुक्त संगठन के द्वारा इस दशा में परिवर्तन किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति के इस गठबंधन के सदस्यों को आवश्यक रूप से शक्ति और विचारों के आदान-प्रदान से, पत्रकारों के समक्ष अपना दृष्टिकोण प्रेषित करके आपस में संपर्क में रहना होगा। ख़ास अवसरों पर ज़िम्मेदारी सदैव हस्ताक्षरकर्त्ताओं पर रही है और यह राजनीतिक प्रश्नों के निराकरण हेतु सामान्य से काफी अधिक और सलामी देने योग्य नैतिक प्रभाव छोड़ती है। उन सभी बुराइयों (जो कि अक्सर ज्ञानवान समाजों को विखण्डन के रास्ते पर ले जाती हैं) और खतरों (जो कि अविलग रूप से मानव की मनोवृत्तियों की कमज़ोरियों से जुड़े होते हैं) के लिये निश्चित रूप से ऐसे संगठन के लिये शिकारियों की तरह होंगे। इस तरह के प्रयासों को मैं अनिवार्य कर्त्तव्य से कमतर नहीं देखता हूँ।

यदि ऐसी समझ वाले वैश्विक संगठन का निर्माण हो पाता है, जिसका कि मैंने पूर्व में वर्णन किया; यह युद्ध के विरुद्ध संघर्ष हेतु आध्यात्मिक संस्थाओं को संगठित करने का ईमानदार प्रयत्न भी कर सकता है। यह उन तमाम लोगों के लिए अनुग्रह होगा, जिनके उत्कृष्ट ध्येय निराशाजनक निष्कासन के कारण विकलांग हो चुके हैं। अंततः मुझे विश्वास है, यदि अपनी-अपनी दिशाओं के अत्यन्त आदरणीय लोगों का ऐसा संगठन बन पाया, जैसे कि मैंने वर्णित किया, तो राष्ट्र-संघ के उन तमाम देशों को, जो कि वास्तव में एक महान लक्ष्य की दिशा में कार्यरत हैं और जिस ध्येय के लिये संघ का अस्तित्व है, को महत्त्वपूर्ण नैतिक, सहयोग प्रदान करने हेतु अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हो सकता है।

मैंने यह प्रस्ताव विश्व के किसी अन्य के अलावा आपके समक्ष इसलिये रखा, क्योंकि आप अन्य सभी लोगों की अपेक्षा अपनी इच्छाओं के द्वारा सबसे कम ठगे जाते हैं, क्योंकि आपके आलोचनात्मक निर्णय ज़िम्मेदारी के सबसे गहरे एहसासों पर आधारित होते हैं।

आपका
(अल्बर्ट आइंस्टीन)

(हिन्दी रूपान्तर मेहेरबान राठौर, भौतिकी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

'डार से बिछुड़ी' : एक पाठकीय प्रतिक्रिया

विजय बहादुर सिंह

कृष्णा सोबती को पढ़ना सीधे ज़िन्दगी से बात करना है। खुली आँखों उसे देखना है। उनके शब्द किसी घटना की तरह घटते हैं और हम उसके हिस्से बनते चले जाते हैं। सच तो यह कि वे कथा नहीं कहतीं। उस ज़िन्दगी को रचती हैं जो उनके अनुभवों से फूटती है और किसी अटूट सिलसिले की तरह चलती चली जाती है।

असल बात तो उनके ये अनुभव ही हैं जो उनकी चेतना में किसी विस्फोटक की भाँति रहते हैं। इन्हें वे जिस तरह पालतीं, पोसती और सम्हालती हैं, वह 'तरह' रेयर है। रहस्य की बात यह कि फिर भी वे किसी हड़बड़ी में नहीं रहतीं। पहले तो वे उन्हें खूब ठोक-बजा लेती हैं। जाँच-परख पूरी हो जाने पर ही वे उन्हें वह सिलसिला देती हैं जिसे कोश चाहे तो तेजाबी सिलसिला कहे। इस सिलसिले से गुज़रना जैसे तेजाब के बीच से गुज़रना हो।

यों मैं उनके निजी जीवन के बारे में नहीं ही जानता कुछ। पर उन्हें पढ़ कर यह तो लगता ही है कि संवेदना की एक बड़ी तीखी और भारी राशि उनके व्यक्तित्व की समृद्धि है। एक बार किसी ने उनसे पूछा था कि क्या कभी वे किसी तरह का अभाव अनुभव करती हैं तो इसके जवाब में उन्होंने जो कहा था मुझे सार में अब तक याद है। उन्होंने कहा था कि लेखक तो तब अभावग्रस्त माना जायगा जब उसके पास अनुभव न हों, विचार न हों। उनका यह जवाब पढ़कर हम लेखकों को यह नसीहत भी मिली थी कि लेखक के अभाव का असल अर्थ क्या है। क्या सचमुच वह उस जीवन को जानता है जिसकी कहानी कह रहा है। अगर कह भी रहा है तो क्यों कह रहा है क्या इसे भी जानता है। कृष्णा जी सिर्फ यह नहीं जानती कि जीवन क्या है, यह भी जानती हैं कि उनके कहने के पीछे का मकसद भी लोगों तक पहुँच पा रहा है या नहीं। और यह दोनों काम करती हुईं वे जो हुनर या कला प्रदर्शित करती हैं, वह भी उन्हीं का रचा हुआ रहता है।

ग्लोबल की आँधी में लोकल का जिद्दी चिराग जलाने की बात आज बहुत की जाती है। पर यह लोकल क्या होता है कोई मुझसे पूछे तो यही कह पाऊँगा कि जिसके बीच मैं जिन्दा हूँ, साँस लेता हूँ, उठता-बैठता हूँ। वह जो मुझे चारों ओर से घेरे रहता है मेरी पहचान बनकर और मैं उसकी पहचान को अपनी पहचान में शामिल करके अपनी अस्मिता पाता हूँ।

कृष्णा जी इसी जिद्दी लोकल की लेखिका हैं। इसलिए कोई यह भी कह सकता है कि

वे ग्लोबल तो हैं ही नहीं। तब वे एक बड़ी लेखिका कैसे हुईं। जवाब में यही कहना पड़ेगा, हाँ वे बड़ी लेखिका तो सचमुच नहीं हैं पर खास लेखिका ज़रूर हैं, ठीक वैसे ही जैसे प्रेमचन्द थे या फिर रेणु। ये लोग अपनी ज़मीन को जानते थे। उसी की चिन्ता में डूबे और खोए रहते थे। उसी के दर्द को सहते रहते थे। कृष्णा जी भी तो यह सब करती दिखती हैं। उनका हर शब्द इसी के प्रति मुस्तैद रहता है। यह और बात है कि वह कभी-कभी इतना लोकल रहता है कि शहरी हिन्दी वालों के लिए अबूझ बन जाता है। कृष्णा जी शहरी हिन्दी में नहीं लिखतीं। वे उस हिन्दी में लिखती हैं जिसमें उन्हें अनुभव मिले हैं। उनकी कोशिश रहती है कि पाठक भी शब्दों से नहीं, उनके अनुभवों से संवाद करें।

कृष्णा जी को पढ़ते हुए बार-बार भारत की वह महाकाव्य परम्परा याद अपने लगती है जिसमें सीता और द्रौपदी जैसी स्त्रियों की ही नहीं कुन्ती, गांधारी और सत्यवती की भी पीड़ाएँ दर्ज हैं। अपने को आदर्शों की दृष्टि से अत्यन्त उच्च समाज समझने वाला यह भारतीय समाज स्त्री को लेकर कैसे इतना निर्दय और क्रूर रहा आया है, यह सवाल बार-बार मन में उठता है। कृष्णा जी का पहला उपन्यास 'डार से बिछुड़ी' पढ़ते हुए तो केवल उठता नहीं, बेचैन करता हुआ मथ भी डालता है।

'पाशो' जिसे केवल अपनी ही नहीं, अपनी माँ के भी कर्मों की सजा उस ननिहाल में भुगतनी पड़ रही है, जिसमें उसका बचपन, कैशोर्य और चढ़ती हुई अभिशप्त जवानी बीत रही है। इन प्रसंगों को पढ़ते हुए बार-बार स्त्री की परवशताएँ और गुलामियाँ याद आती हैं। उसका सहज उठना-बैठना, हँसना-बोलना, आकृष्ट होना या करना अपराध माना जाता है। और अगर कभी उसने कोई निर्णय लिया या विद्रोह करने की कोशिश की तब तो खैर नहीं। 'पाशो' ने एक निर्णय लिया और किसी तरह भागकर अपनी माँ के पास शेखोंवाली हवेली पहुँची भी तो क्या। उसके बाद का जीवन चार दिन की चाँदनी के बाद अँधेरी रात बनकर रह गया। एक स्त्री जिसके पति के न रहने पर उसके जबरन हजार पति खड़े हो जाते हैं। वह दुख से भरा अपना वैधव्य भी नहीं काट पाती। विधवा होकर रहने का अधिकार उसका नहीं। अपने पैदा किए हुए अपनी गोद के बेटे को पालने-पोसने और उसी बल पर जी लेने का अधिकार उसका नहीं। वरण करने की उसकी स्वतंत्रता नहीं।

ये सारे सवाल 'डार से बिछुड़ी' पढ़ते हुए मन में उत्पीड़क सवाल बन कर उठते हैं। क्या इन सवालों को उठाते हुए कृष्णाजी उस समूची पुरुष प्रधान व्यवस्था को कटघरे में नहीं खड़ी करती जो आज भी किसी तरह टूटने को राजी नहीं। अगर राजी नहीं तो फिर स्त्री को आज़ादी और न्याय कैसे मिले? उसे सहज और स्वाभाविक जीवन जीने को कैसे मिले? उसे भी मानवोचित अधिकार कैसे प्राप्त हों। वह भी मानवी कैसे मानी जाय?

इन सदियों पुराने फिर भी ज्वलंत सवालों को वे जितनी वेदनाग्रस्त और करुण होकर उठाती हैं, स्वाभावतः उनकी कहानी व्यथा में डूबती और पीड़ा से सराबोर होती जाती है। यह भी सोचने का मन होता है कि स्त्री जीवन को लेकर उनके जो अनुभव हैं वे वाल्मीकि, वेदव्यास,

अभिज्ञान शाकुन्तल के कालिदास या फिर हमारे अपने जमाने के मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, शरतचन्द्र से किस मायने में अधिक त्रासदायी हैं। फिर भी क्यों वे प्रेमचन्द आदि की तरह स्त्री के अभिशापित जीवन को लेकर कोई स्वप्नलोक क्यों नहीं रचतीं। वे तो खुद स्त्री हैं। कहीं इसीलिए तो नहीं? आखिर वे कोई रास्ता क्यों नहीं तलाशतीं? या फिर उनका ध्येय उस असली अपराधी को कटघरे में खड़ा करना है, जिसका नाम पुरुष व्यवस्था है और जो स्त्री को लेकर आद्योपान्त बर्बर है।

एक कुशल कथा-शिल्पी की तरह वे अपने शिल्प को जिस तरह गढ़ती हैं, वह जैसे कथा न हो, नाटक के अंक और दृश्य हों जिनमें सारा वर्णित नहीं, चित्रित जीवन-व्यापार, जीती-जागती घटनाओं की मानिन्द घट रहा हो। कृष्णाजी इसके लिए जिस तरह के जीवन-दृश्यों का चयन करती हैं, वे जितने प्रमाण-सक्षम सटीक और संक्षिप्ति लिए हुए सामने आते हैं कि लगता है कोई बेहद सुसंपादित फिल्म चल रही हो। निश्चय ही वे अपनी कल्पनाओं का उतना ही दोहन करती हैं जितने से अपेक्षित जीवन-प्रसंग अपनी बेधकता संप्रेषित कर सके। अन्य कई उपन्यासकारों की तरह कथा से बाहर जाकर विषय-विशेष की विवेचना उन्हें मंजूर नहीं। वे मानती हैं कि कथा में ही इतनी सामर्थ्य हो कि वह कथाकार की क्षमताओं और कुशलताओं का आईडेन्टिटी कार्ड बन सके। और कृष्णाजी की कथाएँ उनके अपने सन्दर्भ में तो यह हैं ही।

एक प्रश्न ज़रूर उनकी कथा-भाषा को लेकर उठता रहा है। खुद अज्ञेय जी ने एक प्रश्नकर्त्ता के सवाल पर यह तीखी टिप्पणी की थी कि वे (यानी कृष्णाजी) जब हिन्दी में लिखेंगी तब पढ़ूँगा। इस कहने में बड़ा आरोप तो यही है कि उनकी हिन्दी 'हिन्दी' नहीं है। केवल 'डार से बिछुड़ी' ही क्यों, 'ज़िन्दगीनामा' वगैरह भी।

तो क्या हम कहें कि रेणु की तरह वे भी आंचलिक हैं? या फिर उनकी हिन्दी पंजाबी हिन्दी है? अभी तक हिन्दी के जितने रूप पाए जाते हैं उनमें सबसे ज्यादा विवादास्पद कबीर की हिन्दी है। थोड़ी बहुत मीरा की भी है ही। हिन्दी का क्षेत्र अभी ढेर सारे विस्तार की संभावना लिए हुए है। विकसनशील भाषा होने के नाते उसे प्रचुर शब्द-भण्डार की भी ज़रूरत है और कृष्णाजी जो वाक्य रचती हैं वह तो हिन्दी का ही होता है, शब्द भले ही स्थानीय रंगत लिए हुए हों।

चरित्रों की रचना में भी वे बेहद चटख और तीखे रंगों का प्रयोग करती हैं। किसी तरह की कोई कृपणता तो वे करती ही नहीं। 'डार से बिछुड़ी' में भी चाहे पाशो का चरित्र हो या फिर मौसी और बुढ़िया का, इतने जाहिर और असरदार हैं कि यथार्थवादी यथार्थ भी सकपका जाय।

सच तो यह है कि कृष्णा जी एक परिपूर्ण (परफैक्ट) सर्जक हैं। उन्हें जितनी खबर जीवन की है, रचनात्मक जीवन की उससे कम नहीं। कल्पना और यथार्थ की क्रीड़ा को वे जिस कौशल से प्रस्तुत करती हैं, वह तो बस उन्हीं के वश में है।

एम-29, निराला नगर,
भदभदा रोड, भोपाल (म.प्र.) 462003
मो. 9425030392

(डार से बिछुड़ी, उपन्यास, लेखिका : कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, पेपरबैक संस्करण, मूल्य : 75 रु.)

स्मृत्यालोक में महागुरु के अंतःस्वर की तलाश

छबिल कुमार मेहेर

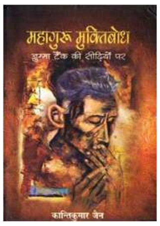

''मुक्तिबोधजी का अनुकरण सम्भव नहीं है, किसी भी बड़े कवि का अनुकरण सम्भव नहीं होता किन्तु बड़ा कवि वह है जो अपनी पीढ़ी को ही नहीं, परवर्ती पीढ़ियों को भी प्रभावित कर सके। इस अर्थ में मुक्तिबोधजी स्वतंत्र भारत के अनन्य कवि हैं ।'''महागुरु मुक्तिबोध', पृ. 11।

'' 'नर्मदा की सुबह' निकल सकी होती तो हिन्दी कविता का इतिहास दूसरा होता । वे 'अज्ञेय' नहीं थे। सप्तकों के माध्यम से 'अज्ञेय' ने स्वतन्त्रता परवर्ती हिन्दी कविता को हाइजैक कर लिया और उसे सौन्दर्य और सौठव की ओर टिल्ट कर दिया, पर मुक्तिबोध अपने मोर्चे पर सामाजिक-प्रगतिशील कविता के लिए निरन्तर संघर्षरत रहे।'' 'महागुरु मुक्तिबोध', पृ. 271 ।

उत्तर-शती के इस क्रूर समय में, ख़ासकर साहित्य में जब कभी संघर्षशील, तटस्थ, सत्यान्वेषी, जुझारू सर्जकों-लेखकों की बात उठती है, मुझे कबीर और कबीर के बाद सीधे निराला और मुक्तिबोध बेसाख़्ता याद आते हैं । मुक्तिबोध के मामले में तो स्पष्ट ही है कि वे स्वातंत्र्योत्तर मोहभंग और जनता के अनकहे-अनसुने दर्द को ताउम्र फैण्टेसी की मारफत तहरीर करते रहे । ऐसे में, मुक्तिबोध की 50वीं पुण्यतिथि के अवसर पर प्रकाशित *'महागुरु मुक्तिबोध : जुम्मा टैंक की सीढ़ियों पर'* की महत्ता स्वयंसिद्ध है। मुक्तिबोध को केन्द्र में रख कर लिखी गई इस समीक्षात्मक संस्मरण के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि स्वतंत्र भारत के सर्वव्यापी अँधेरे को सबसे पहले पहचानने वाले हिन्दी के महत्तम कवि हैं गजानन माध ाव मुक्तिबोध । यह कृति मुक्तिबोध के नागपुर प्रवास वाले दशक (1948-58) को समेटती है और वहाँ की मित्र मण्डली व उनकी वैचारिक शक्ति को रेखांकित करती है । नागपुर में बिताया यह दशक मुक्तिबोध के लिए असुरक्षा और परीक्षा का दशक तो रहा ही, वहाँ के तत्कालीन परिवेश ने उनकी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति को किस हद तक उत्प्रेरित-प्रभावित किया, कृति से गुज़रते हुए सहज ही महसूस किया जा सकता है । संस्मरणकार के शब्दों में : 'ये दस वर्ष मुक्तिबोध के जीवन के घनघोर अभावों और प्राणांतक असुरक्षा के साथ ही उद्दाम रचनात्मकता और दुर्दम जिजीविषा के भी वर्ष थे ।''वे कठिन दिन थे, यातनापूर्ण, अभावों से भरे हुए । रोजमर्रा के टुच्चे संघर्षों से जूझने के, अपमान सहने के, दुरदुराए जाने के दारुण दिन। वे दिन कितने दूभर थे !' यहाँ निराला स्वतः याद आ जाते हैं *'धिक् जीवन जो पाता ही आया*

विरोध ।' ये वे दिन थे जब मुक्तिबोध एक कप चाय के लिए तरस जाते थे, कर्ज के बोझ से दबे गली-कूचों के रास्ते घर पहुँचते थे, कर्जदारों से छिपते फिरते थे, बीमारी से उन्हें छूटकारा ही नहीं मिल पाता बेबसी इतनी कि कुछ भी करने को तैयार,चाहे वो घोस्ट राइटिंग हो या भाषांतरण या सम्पादकीय सहयोग । सचमुच *'जिन्दगी कितना ज्यादा माँगती है, देती कितना कम है ।'* और उन्होंने तय किया था कि जिन्दगी जो माँगेगी, देंगे । और उम्रभर 'जलते हुए सत्य' तक पहुँचने के लिए लिखते-लड़ते रहे । घर, परिवार, पत्नी, बच्चासब के सब उपेक्षित, किसी की कोई चिन्ता नहीं । ऐसे में घरबार कैसे चलता होगा ?लेखन कैसे होता होगा ? *दिन खाली-खाली बरतन है और रात है जैसे अंधा कुआँ* खाली-खाली डिब्बा, खाली-खाली बरतनों से घिरीं कविपत्नी शांताजी, जिन्हें मुक्तिबोध प्रेमविवाह कर नागपुर ले आए थे, के वे दारुण दिन कैसे कटे होंगे सहज ही अनुमान किया जा सकता है । धन्य हो शांतादेवी जी आपके धीरज, आपकी सहिष्णुता को शत-शत नमन। आप न होतीं तो कहाँ होते मुक्तिबोध। संस्मरणकार कहने को विवश हैं : 'साहित्यकार की पत्नी को गरीबीली गरीबी की क्या कीमत चुकानी पड़ती है, यह कोई शांताजी से पूछे ।'

इस कृति को रचने में कान्तिकुमार जी ने न जाने कितने स्रोतों, कितने सन्दर्भों-शोध, स्मृति, पत्रावली, मित्र, मित्रों के मित्र के अलावा यात्रा, टेलीफोन, पत्राचार आदि खोज के जितने साधन और माध्यम हो सकते हैं उन सबका पूर्ण उपयोग किया है, ताकि संस्मरण में समय और सच, दोनों बरकरार रह सके । 15 अध्यायों में विभक्त एवं 272 पृष्ठों में विस्तारित इस पुस्तक में मुक्तिबोध मण्डल के कवियों, मित्रों के दस्तावेजों को इस कौशल से सहेजा गया है कि संस्मृत और उनके परिवेश, तत्कालीन समाज, राजनीतिक हलचल सबकुछ सिनेमा की भाँति सजीव होकर पाठक की आँखों के सामने प्रकट हो जाते हैं, चाहे वो 'नया खून' के जन-चरित्री सम्पादक स्वामी कृष्णानन्द 'सोख़्ता' हों या गंगा जमुनी संस्कृति के प्रतीक अब्दुल हकरग ँ 'मशरिकी', या नरेश कुमार मेहता, जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही', रायकृष्ण श्रीवास्तव, अनिल कुमार, प्रमोद वर्मा, सतीश चौबे, श्रीकान्त वर्मा जैसे कवि हों,हरिशंकर परसाई जैसे व्यंग्यकार हों या भाऊ समर्थ जैसे चित्रकार । महत्त्वपूर्ण बात यह कि मुक्तिबोध के मित्रों की निकटता का आधार कोई विचारधारा नहीं, अपितु ईमानदारी से जीने की कोशिश थी। मुक्तिबोध के अन्तरंग और बहिरंग को समझने के लिए इन मित्रों को जानना और पहचानना बहुत ज़रूरी है । हिन्दी साहित्य के चिन्तक-विचारकों लिए यह चौंकाने वाला तथ्य है कि मुक्तिबोध के मित्र उन्हें 'महागुरु' कहकर सम्बोधित करते थे, जो 'महाप्राण', 'महामना' की तर्ज पर अर्जित एक सटीक और सार्थक विशेषण है । मुक्तिबोध इस खिताब से प्रसन्न थे । इन कवियों की रचना प्रक्रिया में वे (मुक्तिबोध) 'केटेलिटिक एजेंट' का रोल अदा करते थे । पुस्तक यह भी उजागर करती है कि मुक्तिबोध को बुर्जुआ-मनोवृत्ति से सख़्त नफरत थी और इसलिए बुर्जुआ मित्रों से भी । अभिजात्य प्रदर्शन के प्रति वे एलर्जिक थे । वैसे ये मित्र-मण्डली भी

मुक्तिबोध की अहम जरूरत बन गई थी । प्रमोद वर्मा जी ने यह स्पष्ट कर दिया है : 'दोस्त मुक्तिबोध की अहम् ज़रूरत थे और इन दोस्तों का साहचर्य मुक्तिबोध को भावदीप्त करता और विचारदीप्त भी । रचनादीप्त भी ।' आगे उन्होंने जोर देकर कहा है : 'अगर मैं कहूँ कि मध्यप्रदेश के साहित्यकारों की नयी पीढ़ी ने सन् 1950 और 1955 के बीच मुक्तिबोध को नए सिरे से 'डिस्कवर' किया तो यह बात बहुत गलत नहीं होगी ।' सारांश है : 'किसी अन्य कवि को समझने के लिए उसकी मित्र-मंडली को जानना-समझना आवश्यक हो या न हो, मुक्तिबोध को समझने के लिए तो वह नितान्त अनिवार्य है ।' इन्हीं मित्रों के कथनों से मुक्तिबोध के व्यक्तित्व के अनेक अनजाने-अनसुने पक्ष उजागर होते हैं और मुक्तिबोध को हम और करीब से जान पाते हैं। मसलन, मुक्तिबोध वास्तविक जीवन में एकान्त प्रिय व्यक्ति थे, संकोची और सशंक थे; वे अपरिचित से मिलने में सकुचाते थे; वे ऐपिक स्ट्रेचर के कवि थे; दुनियादारी में मुक्तिबोध निहायत बुद्धू थे पर विचार के मामले में बड़े कांइयाँ थे, बोलते-बोलते सहसा चुप हो जाते थे, सभा-समारोह में बोलना उनके लिए कठिन होता था, पाठक की प्रतिक्रियाओं के प्रति वे बहुत सजग थे, आदि-आदि । इसके अलावा यह कृति इन प्रश्नों का भी जवाब देती है कि मुक्तिबोध जबलपुर से नागपुर कैसे और क्यों पहुँचे ? नागपुर में घोर संघर्ष के बावजूद कैसे उत्कृष्ट रच पाए ? जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही' ने उन्हें 'महागुरु' खिताब क्यों दिया ? उनकी कविताओं में अँधेरे के बड़े विविध और भयानक दृश्य क्यों है ? क्यों नरेश मेहता कहते थे : 'मैं मुक्तिबोध को समझ नहीं पाता था' या स्वयं मुक्तिबोध क्यों नरेश जी को कहते थे : 'पार्टनर, आप राजनीतिक कविताएँ लिखना बंद कीजिए ।' यह भी कि- 'अपने महाचेले 'विद्रोही' की 'चरवाहा' कविता मुक्तिबोध को बहुत प्रिय थी ।', 'रामकृष्ण श्रीवास्तव वाद से अधिक महत्त्व जीवन को देते थे ।', 'अनिल कुमार की कविताएँ सन्दर्भबहुला हैं । ये सन्दर्भ भी राजनीति या साहित्य से आते हैं ।', 'मुक्तिबोध का काव्य रोमेंटिक मिजाज के खात्मे का काव्य है।', 'परसाई मुक्तिबोध के मित्रभाव को परस्पर भाव-सहचर भाव कहते थे ।', 'नन्ददुलारे वाजपेयी जी साहित्येतर कारणों से भगवती प्रसाद वाजपेयी और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' पर कृपालु थे ।', 'नागपुर के दिनों के मित्रों में काव्य सम्बन्धी सर्वाधिक विश्वास मुक्तिबोध जी का श्रीकांत वर्मा पर था ।', 'नागपुर की मित्र मंडली में प्रमोद वर्मा शंकुक कहलाते थे ।', 'सप्तकों के माध्यम से अज्ञेय ने स्वतंत्रता परवर्ती हिन्दी कविता को हाईजैक कर लिया' आदि ।

वैसे मुक्तिबोध के सन्दर्भ में यह जान लेना ज़रूरी है कि उनकी सृजनधर्मिता, उनकी प्रगतिशीलता समाज निरपेक्ष नहीं है । उनके लिए साहित्य का सच, समाज का ही सच है । मुक्तिबोध के सहपाठी विलायतीराम घेई कहते हैं : 'कविता और दर्शन की चर्चाओं में उनका खुद का जीवन निरीक्षण भी घुला-मिला रहता था । अनुभव को ग्रहण करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी और वे उसका बौद्धिक विश्लेषण करने में भी बहुत माहिर थे ।' इतना ही नहीं

मुक्तिबोध जी का दृढ़ मत था कि राजनीति साहित्य से अलग नहीं की जा सकती । पुस्तक का अन्तिम अध्याय *'नर्मदा की सुबह : कविता में राजनीतिक स्वरों की पहचान'* इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । ये वो समय था जब मुक्तिबोध अपनी और मित्रों की कविताओं में राजनीतिक स्वरों को रेखांकित करना जरूरी समझ रहे थे । श्रीकांत वर्मा को 17.08.59 के पत्र में उन्होंने लिखा है : 'राजनैतिक स्वर, जो मेरे काव्य में प्रछन्न रूप से विराजमान रहता है, आपने पहचाना। वह स्वर, वस्तुतः, एक महत्त्वपूर्ण किन्तु गोपन विशेषता है जो मेरे काव्य को रूप देती रही है।' *'नर्मदा की सुबह'* कविता संकलन का प्रकाशन मुक्तिबोध का सपना था जो सपना बन कर ही रह गया । इस बीच शुभ सूचना मिली है कि सुयोग्य कवि-पुत्र रमेश मुक्तिबोध इसके प्रकाशन को लेकर सचेष्ट हैं ।

कान्तिकुमार जी भाषाविज्ञानी हैं, भाषा के खिलाड़ी हैं । भाषा उनके इशारे पर नाचती है । वे लोकभाषा, बोली, तत्सम, तद्भव, अंग्रेजी, अपभ्रंशकिसी से परहेज नहीं करते। समकालीन समाज में प्रयुक्त भाषा एवं शब्दों का सार्थक प्रयोग करने से भी वे नहीं चूकते, चाहे कोई भी सन्दर्भ या किसी भी विधा से उसका सम्बन्ध क्यों न रहा हो । फिकर नाट, केटेलिटिक एजेंट, बिगड़ैल, पब्लिक रिलेशनिंग, सप्ताहनामचा, चाय कुट्टा, बिड़ियल, बीड़ीबाज, फादरणीय, टुटहे फाउंटेन। वे प्रसंगानुसार मराठी, बुंदेलखंडी, बांग्ला तथा अंग्रेजी के वाक्यों का प्रयोग कर सन्दर्भ को अधिक स्पष्ट और सन्दर्भवान बनाते हैं । मिथक के सार्थक-सटीक प्रयोग में तो कान्तिकुमार जी सिद्धहस्त हैं । प्रयोग देखिए : 'अज्ञेय जी के 'कंटेम्पोरेरी हिन्दी लिटरेचर' शीर्षक लेख पर 'वसुधा' के पत्रों में परसाईजी ऐसे टूटे जैसे इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सुअम्भ पर टूटता है ।'

मुक्तिबोध अपने दोस्तों के साथ हिन्दी और अंग्रेजी में पत्रचार करते थे । पुस्तक में कान्तिकुमार जी ने मुक्तिबोध द्वारा प्रयुक्त शब्दों को ज्यों का त्यों रखा है । उनका कहना है कि इससे मुक्तिबोध जी के गद्य-शिल्प और भाषा व्यवहार के विकास को समझने में सहायता मिलती है ।

कुल मिलाकर यह एक प्रामाणिक संस्मरणात्मक-समीक्षात्मक-औपन्यासिक दस्तावेज है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कृति 'उपन्यास, संस्मरण और समीक्षा', तीनों का कलात्मक सामंजस्य ही है, बल्कि 'उपन्यास से ज्यादा रोचक, समीक्षा से ज्यादा विचारोत्तेजक और संस्मरणों से ज्यादा आत्मीय' है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कृति मुक्तिबोध को समझने-समझाने और पुनर्मुल्यांकन के लिए प्रेरित करेगी । भूमिका में ही कान्तिकुमारजी ने इस पुस्तक की प्रासंगिकता और उपादेयता को स्पष्ट कर दिया है : 'मुक्तिबोध पर हुए शोध कार्यों और समीक्षा ग्रन्थों की कमी नहीं है। इस पुस्तक में मुक्तिबोध और उनके मित्रों के ऐसे सन्दर्भ हैं जो पहले कहीं उल्लिखित नहीं हैं । स्वामी कृष्णानन्द 'सोख़्ता' और श्री अब्दुल हक खा ँ 'मशरिकी' पर पहली बार इस पुस्तक में विस्तार से विवेचन किया गया है। इससे मुक्तिबोधजी के व्यक्तित्व और

रचनात्मकता के अनेक नए पक्षों को समझने में सहायता मिलेगी ।मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक मुक्तिबोध विषयक अनेक जिज्ञासाओं का शमन तो करेगी ही, उन्हें उद्दीप्त भी करेगी।' समीक्षक को भी पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी जगत के जागरुक पाठक एवं आलोचक 'तुम्हारा परसाई' की भाँति 'महागुरु मुक्तिबोध' को भी हाथोंहाथ लेंगे और कृति की महत्ता एवं सार्थकता को उजागर करेंगे। पहले जो पाठक, समीक्षक 'तुम्हार परसाई' पढ़े होंगे, उन्हें निश्चित रूप से कान्तिकुमार जी की दूसरी कृति की प्रतीक्षा रही होगी और 'बैकुण्ठपुर में बचपन' उन्हें चौंकायी होगी। और 'बैकुण्ठपुर में बचपन' के बाद जब वे 'महागुरु मुक्तिबोध' को पढेंगे तो उनके लिए यह तय कर पाना मुश्किल हो जाएगा कि इनमें से कौन-सी कृति कान्तिकुमार जी की 'मैग्नम ओपस' अर्थात् श्रेष्ठ कृति है । हो सकता है उनकी प्रकाश्य पुस्तक 'पप्पू खवास का कुनवा' इन सब कृतियों पर भारी पड़े ! कहने की ज़रूरत नहीं कि इसी में कान्तिकुमार जी के लेखन की सार्थकता और श्रेष्ठता निहित है ।

हिन्दी अधिकारी, राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्य प्रदेश-470003
मो. 08989154228

(महागुरु मुक्तिबोध : जुम्मा टैंक की सीढ़ियों पर, समीक्षात्मक संस्मरण, लेखक : कान्तिकुमार जैन, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य : 500 रु.)

''राष्ट्र के एकीकरण के लिए सर्वमान्य भाषा से अधिक बलशाली कोई तत्त्व नहीं। मेरे विचार में हिन्दी ही ऐसी भाषा है।''

लोकमान्य तिलक

राजभाषा प्रकोष्ठ : कदम दर कदम

विनोद रजक

विश्वविद्यालय का राजभाषा प्रकोष्ठ भारत के संविधान में विहित राजभाषा संबंधी प्रावधानों एवं भारत सरकार, गृह मंत्रालय, राजभाषा विभाग द्वारा समय-समय पर जारी आदेशों का अनुपालन सुनिश्चित करने हेतु निरन्तर प्रयत्नशील है। विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों/अनुभागों में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से राजभाषा प्रकोष्ठ प्रत्येक तिमाही में कम से कम एक हिन्दी कार्यशाला का आयोजन करता है। 'भाषा भारती' के प्रवेशांक के प्रकाशन के बाद से अब तक दिनांक 20 दिसम्बर, 2013 को 'हिन्दी टंकण प्रशिक्षण', दिनांक 26 मार्च, 2014 को 'हिन्दी में टिप्पण और आलेखन', दिनांक 06 जून, 2014 को प्रवर श्रेणी लिपिकों हेतु 'एक दिवसीय प्रायोगिक कार्यशाला' तथा 31 अक्टूबर, 2014 को अनुभाग अधिकारियों हेतु 'कार्यालयीन कामकाज में अनुवाद' विषयों पर कार्यशालाएँ आयोजित की गईं। इन कार्यशालाओं में विषय प्रवर्तक के रूप में केन्द्रीय हिन्दी प्रशिक्षण संस्थान के क्षेत्रीय कार्यालय, जबलपुर में पदस्थ सहायक निदेशक श्री दिलीप साहू जी, वरिष्ठ कवि एवं आलोचक श्री विजय बहादुर सिंह जी तथा आकाशवाणी, सागर के निदेशक एवं नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति के अध्यक्ष श्री महेन्द्र कुमार त्रिवेदी जी उपस्थित रहे। इन कार्यशालाओं में चरणबद्ध तरीके से विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों/अनुभागों में कार्यरत लगभग 60 अवर श्रेणी लिपिकों एवं 14 अनुभाग अधिकारियों को प्रशिक्षित किया जा चुका है। वित्त वर्ष 2014-15 के अन्त तक विश्वविद्यालय में कार्यरत समस्त अवर श्रेणी लिपिकों को प्रशिक्षित कराने का लक्ष्य है।

भारतीय संविधान में भाषा संबंधी अनुबंधों एवं भारत सरकार द्वारा समय-समय पर जारी आदेशों/निर्देशों का अनुपालन सुनिश्चित कराने के उद्देश्य से गठित राजभाषा कार्यान्वयन समिति की वर्ष में कम से कम चार बैठकें अनिवार्य रूप से होती हैं। इस वर्ष भी विश्वविद्यालयीन राजभाषा कार्यान्वयन समिति की बैठकें नियमित अन्तराल पर अनिवार्य रूप से प्रशासनिक भवन स्थित समिति कक्ष में आयोजित की गईं। वर्ष 2013 के सितम्बर माह में हिन्दी दिवस को विशेष उल्लास के साथ मनाया गया। 12, 13 एवं 14 सितम्बर, 2013 को आयोजित इस तीन दिवसीय समारोह में हिन्दी टंकण प्रतियोगिता, आशुभाषण प्रतियोगिता एवं कविता लेखन प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। हिन्दी दिवस पर प्रो. विजय बहादुर सिंह, प्रो. रमेश

दवे, प्रो. सुरेश आचार्य, डॉ. शरद सिंह का व्याख्यान हुआ एवं अन्य गणमान्य शिक्षकों ने अपने विचार रखे। कार्यक्रम में न केवल अधिकारियों, शिक्षकों व कर्मचारियों ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया बल्कि छात्र-छात्राओं ने भी पूर्ण मनोयोग से कार्यक्रम को सफल बनाने में सहयोग प्रदान किया।

वर्ष 2014 के सितम्बर माह में आयोजित राजभाषा प्रकोष्ठ के वार्षिक अनुष्ठान हिन्दी दिवस के दो दिवसीय आयोजन में कर्मचारियों हेतु विभिन्न प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया। कार्यक्रम के समापन एवं पुरस्कार वितरण समारोह में वरिष्ठ फिल्म समीक्षक एवं आलोचक श्री प्रहलाद अग्रवाल जी ने अपने विचार रखे। विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों में हिन्दी की प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने एवं विभिन्न विभागों को इसमें आने वाली समस्याओं के निराकरण हेतु राजभाषा प्रकोष्ठ ने जवाहरलाल नेहरू पुस्तकालय, अँग्रेजी विभाग एवं प्राणि विज्ञान विभाग का निरीक्षण किया गया एवं राजभाषा नियमों के अनुपालन हेतु सुझाव दिये।

इस वर्ष विश्वविद्यालय की वार्षिक लेखा रिर्पोट, प्रवेश विवरणिका, वार्षिक रिपोर्ट, विभिन्न प्रपत्रों एवं अन्य दस्तावेजों का अनुवाद किया गया। राजभाषा अधिनियम 1963 की धारा 3(3) के अनुपालन के लिए भी प्रयास किये गये। राजभाषा प्रकोष्ठ ने विश्वविद्यालय के कर्मचारियों को हिन्दी से जोड़ने के लिए विश्वविद्यालय की वार्षिक राजभाषा पत्रिका 'भाषा भारती' (आई.एस.एस.एन. 2321-5704) के प्रवेशांक का प्रकाशन किया। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय में कार्यरत नियमित अवर श्रेणी एवं प्रवर श्रेणी लिपिकों को गृह मंत्रालय, राजभाषा विभाग के केन्द्रीय हिन्दी प्रशिक्षण संस्थान द्वारा पत्राचार के माध्यम से हिन्दी टंकण का प्रशिक्षण दिलवाया गया। इसके लिए आयोजित व्यक्तिगत संपर्क कार्यक्रम एवं अंतिम परीक्षाओं के लिए विश्वविद्यालय को परीक्षा केन्द्र भी बनाया गया जिसमें विभिन्न जिलों से आये परीक्षार्थियों ने भाग लिया। विशेष प्रदत्त कार्य के रूप में राजभाषा प्रकोष्ठ ने वर्ष 2014 हेतु विश्वविद्यालय के कलैण्डर, डेस्क कलैण्डर, डायरी, प्लानर आदि का प्रकाशन भी किया।

हिन्दी टंकक, राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.) - 470003
मो. 9806410828

पाठकीय

('भाषा भारती' प्रवेशांक को लेकर पूरे देश भर से ढेर सारे समीक्षात्मक पत्र हमें प्राप्त हुए। प्रतिक्रिया हेतु सभी का तहे दिल से शुक्रिया। चूँकि स्थानाभाव के कारण सभी प्राप्त पत्रों को यथावत स्थान देना सम्भव नहीं है अतः महत्त्वपूर्ण पत्रों के चुनिंदा अंश यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं।)

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय की कोई भी गतिविधि मेरे लिए ''वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे'' के नास्टेल्जिया में जीने की मानिन्द सुखद लगती है। मैं तो वहाँ विद्यार्थी और शोधार्थी भी रहा हूँ। 'भाषा भारती' पढ़ते हुए विश्वविद्यालय में बिताये दिनों की स्मृतियाँ पुनर्जीवित हो गयीं- खासतौर पर बन्धुवर विजय बहादुर सिंह के लेख 'डॉ. हरीसिंह गौर की कविता' में गुरुवर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की छवियाँ जाने कितनी तो सजीव हो दिपदिपा उठीं।

प्रोफेसर (डॉ.) धनंजय वर्मा, पूर्व कुलपति, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

'भाषा भारती' जो वैचारिक गाम्भीर्य और सुरुचि-सम्पन्नता प्रदर्शित करती है वह मेरी उम्मीदों को बढ़ाती है।इसका परिक्षेत्र अधिक विस्तृत और विविधतापूर्ण होना चाहिए। विश्वविद्यालय की यह पत्रिका अगर एक ही साथ लोकल और ग्लोबल हो, रचनात्मक और शोधपरक हो, हमारी जानकारियों में इजाफा करती हुई हमारी भाषिक अभिव्यक्तियों को नई खूबसूरती देती हो तो यह हम सबकी सामूहिक उपलब्धि होगी।

प्रो. विजय बहादुर सिंह, पूर्व निदेशक, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता

'भाषा भारती' के माध्यम से राजभाषा कक्ष का यह उपक्रम सराहनीय है। उससे भाषा का रचनात्मक पहलू उजागर होगा। विश्वविद्यालय की प्रतिभाओं को भी एक मंच मिल रहा है। आपके सामने अपार संभावनाएँ हैं। आप इस पत्रिका को साहित्य-संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान की श्रेष्ठ पत्रिका बना सकते हैं।

अनूप सेठी, मुम्बई, ई-मेल द्वारा

एक समय था जब प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय से महत्त्वपूर्ण शोधात्मक/सृजनात्मक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं। आज यह प्रवृत्ति अत्यन्त क्षीण हो गयी है। ऐसे में 'भाषा भारती' का प्रकाशन सराहनीय है।

डॉ. हरदयाल, दिल्ली

Dear Dr. Chhabila Meher, I got the copy of ur patrika. Good Production. Liked ur editorial as well as Vijay Bahadur Singh's write up on Dr. Hari Singh Gour. Rahul Sankrityayan's write up was very very apt. So many words and their origin have been given.Congrates.

-Prof. Pritish Acharya, by e-mail

'भाषा भारती' में आपने जिस तरह से रचनाओं का चयन किया है और उसे साहित्यिक विधाओं के साथ जोड़कर शोध तथा आलोचना को संयोजित किया है वह प्रशंसनीय है अन्यथा शोध पत्रिकाएँ एकाकी होकर अन्य पाठक समाज से वंचित रह जाती हैं। आशा है कि इसकी रचनाओं का दायरा और बढ़ेगा और महत्त्वपूर्ण विषयों पर हमारे विद्वान तथा नये रचनाकारों को स्थान मिलेगा।

उर्मिला शिरीष, चर्चित युवा कथाकार

सामग्री का चयन सुरुचिपूर्ण है। यह आपने ठीक ही किया कि इसे साहित्य की पत्रिका नहीं बनाया वरना कविता, कहानी की स्तरहीन सामग्री से पत्रिका अपना तेज खो बैठती। आप इसे भाषा पर केन्द्रित रखिए। और सागर में भाषा विज्ञान का अच्छा विभाग है, वहाँ तुलनात्मक भाषा की सामग्री भी आगामी अंक के लिए जुटा सकते हैं। हिन्दी और भारतीय भाषाओं के अन्तर सम्बन्ध और अध्ययन, शोध को लेकर भी सामग्री दी जा सकती है।

प्रो. रमेश दवे, वरिष्ठ आलोचक

आपने जो सामग्री संकलित कर के सम्पादित की है वह संकलन और संपादन दोनों ही दृष्टियों से प्रशंसनीय है। इस सार्थक सारस्वत कार्य के लिए साधुवाद शब्द कुछ पूरा नहीं पड़ता। प्राचीन-अर्वाचीन, पूर्व प्रकाशित-सद्यः प्रकाशित हो चुके-हो रहे, अनागत और आगत का श्रेयष्कर अंक है 'भाषा भारती' का प्रवेशांक।

ओउम प्रकाश अवस्थी, फतेहपुर (उ.प्र.)

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर शिक्षा, विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में बुन्देलखण्ड का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण देश के सर्वोत्कृष्ट संस्थानों में से एक संस्थान रहा है। आज़ादी के बाद के उत्तर-आधुनिक समय में हिन्दी के उन्नयन हेतु आपके प्रयास मील के पत्थर साबित होंगे, ऐसी कामना है।

चूँकि, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय बुन्देलखण्ड में है अतः मेरा सुझाव है कि पत्रिका में कुछ स्थान बुन्देली ज़बान के लिए सुनिश्चित करें, यह बुन्देली संस्कृति और समाज के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। साथ ही, हिन्दी के समग्र उन्नयन हेतु यह आवश्यक है कि हिन्दी का इस्तेमाल साहित्य और आम बोलचाल से इतर भी न्याय, अर्थ और विज्ञान जैसे क्षेत्रों में भी

बेहतर ढ़ंग से हो, अतः पत्रिका की विषय-वस्तु सम्बन्धी सीमाओं में रहते हुए भी इन विषयों से सम्बन्धित आलेखों को भी पत्रिका में स्थान दिया जाये।

मेहेरवान राठौर, इलाहाबाद

आपने सर्वांग सुंदर अंक निकालकर आशा के क्षितिज का विस्तार किया है। पाठक के रूप में मेरी पहली उपलब्धि है, स्व. हरीसिंह गौर की बहुत अच्छी कविताओं से परिचय। मैथिल कोकिल विद्यापति की शब्दावली वाले शीर्षक से संक्षिप्त किंतु अपरिहार्य यथार्थ को रेखांकित करने वाला सम्पादकीय बेजोड़ है। धरोहर के रूप में राहुल सांकृत्यायन, नन्ददुलारे वाजपेयी और केदारनाथ अग्रवाल के विचारों का चयन बहुत प्रासंगिक है।

प्रो. रामदेव शुक्ल, गोरखपुर विश्वविद्यालय

डॉ. विजय बहादुर सिंह का लेख 'डॉ. हरीसिंह गौर की कविता' के माध्यम से सागर विश्वविद्यालय की स्थापना तथा उसके प्रारम्भिक अध्यापकों का परिचय मिला। मैं 1952 में सागर आया था, तब एक शोध छात्र था। नेशनल एकेडमी ऑफ साइंसेज का अधिवेशन इन्हीं बैरकों में हुआ था जिनकी चर्चा इस लेख में है। फिर 1962-63 में एक समर स्कूल में सम्मिलित हुआ था। बाद में डॉ. कृष्णदत्त वाजपेयी तथा डॉ. नन्ददुलारे वाजपेयी जी से भी सम्पर्क हुआ। सचमुच सागर विश्वविद्यालय की स्थिति तथा उसकी गरिमा लुभावनी रही है।

इस विश्वविद्यालय द्वारा 'भाषा भारती' का प्रकाशन हिन्दी को उसका राष्ट्रीय पद दिलाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान सिद्ध होगा।

डॉ. शिवगोपाल मिश्र, प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद प्रयाग, इलाहाबाद

'भाषा भारती' के कलेवर और प्रकाशन के अंदाज़ से लगता है कि यह पत्रिका हिन्दी साहित्य के लिए मौलिक सृजनात्मक अभिव्यक्ति का केन्द्र बनेगी।

प्रो. त्रिभुवननाथ शुक्ल, निदेशक, साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर ने, विशेष रूप से माननीय कुलपति प्रो. एन.एस. गजभिये ने, इस साहित्यिक एवं राजभाषा उन्नयन संबंधी अनुष्ठान को विशेष सहयोग, मार्गदर्शन एवं संरक्षण प्रदान किया। हिन्दी-साहित्य जगत प्रो. गजभिये तथा संपादक मण्डल का इस अभिनव प्रयोग के लिए आभारी रहेगा।

प्रो. राममोहन पाठक, पूर्व निदेशक, महामना मदनमोहन मालवीय हिन्दी पत्रकारिता संस्थान, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

●●●

परिशिष्ट

प्रशासनिक शब्दावली

1. Above Par	अधिमूल्य पर
2. Absentee	अनुपस्थित
3. Academic	अकादमिक, शैक्षणिक
4. Academy	अकादमी
5. Acceptance	स्वीकृति
6. Acknowledgement	पावती
7. Acquire	अर्जन, अधिग्रहण
8. Act	अधिनियम
9. Acting	कार्यवाहक
10. Action	कार्यवाही
11. Ad-hoc	तदर्थ
12. Adjustment	समायोजन
13. Administration	प्रशासन
14. Adverse	प्रतिकूल
15. Affiliation	संबंधन
16. Aforesaid	पूर्वोक्त
17. Agenda	कार्यसूची
18. Aid	सहायता
19. Allotment	आबंटन
20. Allowance	भत्ता
21. Answerable	उत्तरदायी
22. Applicable	लागू
23. Arrears	बकाया
24. Audit	लेखा-परीक्षा
25. Appendix	परिशिष्ट
26. Approval	अनुमोदन
27. Bonus	लाभांश, बोनस
28. Brochure	विवरणिका
29. Bribe	रिश्वत, घूस
30. Bureaucracy	दफ़्तरशाही
31. Bye-law	उपविधि
32. Cadre	संवर्ग
33. Cell	कक्ष, प्रकोष्ठ
34. Charge	प्रभार
35. Circular	परिपत्र
36. Clerical error	लेखन-अशुद्धि
37. Code	संहिता
38. Compensation	क्षतिपूर्ति
39. Competent	सक्षम
40. Competency	सक्षमता
41. Compliance	अनुपालन
42. Confirmation	पुष्टि, स्थायीकरण
43. Consent	सहमति
44. Deduction	कटौती
45. Delegate	प्रत्यायोजित करना
46. Deliberation	विचार-विमर्श

47. Demote पदावनत (करना)
48. Despatch प्रेषण
50. Dictation श्रुतलेख
51. Directive निदेश
52. Directorate निदेशालय
53. Directory निर्देशिका
54. Disapproval अननुमोदन
55. Discipline अनुशासन
56. Discretion विवेक
57. Disposal निपटान
58. Dissent असहमति
59. Distribution वितरण
60. Document दस्तावेज
61. Duplicating अनुलिपिकरण
62. Duration अवधि
63. Duty कर्त्तव्य, ड्यूटी
64. Due देय, प्राप्य
65. Enclosure अनुलग्नक
66. Enquiry पूछताछ
67. Entry प्रविष्टि
68. Equipment उपस्कर
69. Estate संपदा
70. Estimate प्राक्कलन
71. Execute निष्पादन करना
72. Executive कार्यपालक
73. Ex-Officio पदेन
74. Expedite शीघ्र कार्रवाई करना
75. Extract उद्धरण
76. File मिसिल
77. Honorarium मानदेय
78. Ibid वही
79. Immigration आप्रवास
80. Inadequate अपर्याप्त
81. Incharge प्रभारी
82. Incompetent अक्षम
83. Index अनुक्रमणिका
84. Initials आद्यक्षर
85. Interim अंतरिम
86. Interval अंतराल
87. Justification औचित्य
88. Lien धारणाधिकार
89. Memorandum ज्ञापन
90. Minutes कार्यवृत्त
91. Notification अधिसूचना
92. Personnel कार्मिक
93. Planning योजना
94. Priority प्राथमिकता
95. Privilege विशेषाधिकार
96. Proceedings कार्यवाही
97. Project परियोजना
98. Record अभिलेख
99. Reinstate बहाल करना
100. Revenue राजस्व